

अपने तर्ई

## समकालीन रचनाधर्मिता के बारे में

यह एक सुखद स्थिति है कि हिन्दी का रचनात्मक साहित्य पिछले १०-१५ वर्षों में बहुत संपन्न हुआ है। संपन्न इस मायने में कि यह अपने सामाजिक यथार्थ से बहुत निकटता से जुड़ा है और उसी मात्रा में राजनीतिक चेतना से भी सम्बद्ध हुआ है। इससे पूर्व आजादी के एकदम बाद के लेखन की धुरी बहुत करके उन अस्तित्ववादी और रूमानी हाथों में पड़ गई थी जो व्यक्तिवादी, मनोविश्लेषणवादी, क्षणवादी, कुंठित सेक्स के मारे, व्यवस्था के पोषक और जीवन को प्रस्तुत करने के लिए अनर्गल और झूठे शब्दाडम्बर के हिमायती थे। इस सबके कारण साहित्य जीवन से कट-सा गया। और वर्जनाओं को चटखारे ले लेकर अभिव्यक्त करने में ही लेखन की सार्थकता समझी जाने लगी। परिणामस्वरूप प्रतिक्रियावादी तत्त्व साहित्य के मंच और इतिहास के पृष्ठों में स्थान पा गए। लेकिन आर्थिक और राजनीतिक दबावों के निरंतर बढ़ते हुए माहौल में यह स्थिति अधिक समय तक नहीं बनी रह सकी और शीघ्र ही पाठक और नए लेखक वर्ग में मोह भंग की स्थिति उत्पन्न हो गयी ऐसा होना स्वाभाविक भी था। पिछले दशक के आरंभ के वर्षों से जिस नवयुवक लेखक वर्ग का उदय हुआ, वह खुद व्यवस्था की गलीज को ढोता हुआ, अपने में घुटन का अनुभव कर रहा था। इस घुटन के बीच उसकी एक नई मानसिकता बनने लगी थी जो समाज में चल रहे आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक षडयंत्रों के विरुद्ध विद्रोह करने पर उतारू थी, जो यथास्थिति के विरुद्ध थी और शोषित, अभावग्रस्त और सभी प्रकार के अवकाशों से अवरुद्ध कर दिए गए आम आदमी के लिए मंगलकारी परिवर्तन की जोरदार हिमायत करती थी। इस नई उगती हुई पीढ़ी ने 'शुद्ध साहित्य' का बहिष्कार किया और लेखन को जीवन में कदम-कदम पर व्याप्त असंतोष, भ्रष्टाचार, अनीति, अन्याय और वैषम्य से जोड़ा, उसमें राजनीतिक चेतना को समन्वित किया, सर्वग्राही असंगतियों का पर्दाफाश किया और अर्थ केंद्रित मूल्यों के संदर्भ में आज के समाज की संश्लिष्टता को अभिव्यक्ति देने का बीड़ा उठाया। एक तरह से इस नई पीढ़ी ने लेखन और लेखक को जुझारू स्वरूप प्रदान किया। उसने सामाजिक पाखंड ब्राह्मणवादी मानसिकता, राजनीतिक छलकपट और धार्मिक लम्पटता का—दूसरे शब्दों में व्यवस्था के

प्रत्येक पक्ष में व्याप्त बेईमानी का एक सिरे से विरोध किया और इसी विरोध के माध्यम से साहित्यकार की सही भूमिका भी स्पष्ट की। इस नवलेखन का उद्देश्य सामाजिक यथार्थ की प्रस्तुति करते हुए लेखकों का एक जुझारू मोर्चा भी तैयार करना रहा है जो साहित्य को जीवन के सभी संगत संदर्भों के साथ जोड़कर चले और जिससे व्यक्ति-जीवन का कोई भी पक्ष अव्यक्त और अछूता न रह जाए। कहना न होगा, नई पीढ़ी के लेखकों ने इस उद्देश्य में काफी हद तक सफलता पाई है। वैसे यह भी गलत नहीं है कि इसमें कुछ शौकिया प्रतिबद्ध लेखकों की भी घुसपैठ हो गई है—लेकिन समय की छलनी में इस प्रकार के रचनाकार जल्दी ही छन जाते रहे हैं। इस संदर्भ में यह कालखंड भी अन्यथा प्रमाणित नहीं होगा।

लेकिन यह कहना भी गलत होगा कि पिछले दशक में लेखन की दिशा पूर्णतः रचनात्मक ही हो गई है। जब तक पूँजीवादी प्रेस के हाथों में प्रकाशन की बागडोर रहेगी, जब तक मध्यवर्गीय लेखक उच्च वर्ग में दीक्षित होने और अर्थ प्राप्ति के लिए हर तरह के समझौते करता रहेगा, जब तक प्रतिष्ठित लेखक साहित्य में अपने नाम को उछालते रहने के लिए अंश-शंका लिखकर अपनी चर्चाएँ करवाते रहेंगे और जब तक कुंठित रचनाकारों को अपने नितांत वैयक्तिक और काल्पनिक अनुभवों और तथ्यों को प्रकाशन की सुविधा मिलती रहेगी—तब तक सही रचना—धर्मिता के साथ बाजारू लेखन भी किसी न किसी लेबल को ओढ़कर बाजार में आता रहेगा—आता रहा है और जिससे साहित्य के क्षेत्र में हमेशा एक संभ्रम की स्थिति बनती रही है। इस प्रकार के लेखन से निपटने की समस्या भी हमेशा बनी रहेगी लेकिन मात्र इसलिए इस स्थिति से अधिक चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि हम सही रचनाधर्मिता से युक्त लेखन को रेखांकित करें, उसे प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के षडयंत्र के तहत उपेक्षित न होने दें और उन्हीं दिशाओं में रचनात्मक लेखन को प्रशस्त करने का प्रयास करते रहें जिससे व्यापक और उदार जीवन जीने के लिए नई जमीन का निर्माण होता है। आज जिस असमंजस, विघटन, एकाकीपन और निपट स्वार्थी स्थितियों के बीच सही लेखक और पाठक जी रहा है उसमें योग्य लेखन को मान्यता देने-दिलाने के लिए पर्याप्त अवकाश है। बस इसके लिए कतिपय सही किस्म के रचनाकारों और विचारकों का एकजुट होना और एक टीम के रूप में कार्य करना आवश्यक हो गया है।

□ □

- देवेश ठाकुर

- डॉ. सतीश पांडेय

## समकालीन हिंदी कविता और बच्चे

समकालीन कविता अपने समय के विमर्श और अनुगूँजों को ही प्रकट नहीं करती है, बल्कि वह जीवन के गहरे और जटिल बहुपरतीय यथार्थ को भी खोलती है। वह अमानुषीकरण की हर प्रक्रिया का विरोध करती है और मनुष्य का विवेक जागृत कर उसे परिस्थितियों का दास बनने से बचाने की सार्थक पहल करती है। इसीलिए वह जहाँ समाज में व्याप्त विषमता को उजागर करती है, वहीं उन शक्तियों के खिलाफ मोर्चा बंदी भी करती है जो इस विषमता के लिए जिम्मेदार हैं। आज की कविता यदि स्त्री, दलित और शोषित पीड़ित की पक्षधर है तो बाजार के खतरों से भी सजग करती है। सूचना-विस्फोट, संवेदनहीनता, प्रकृति और पर्यावरण से लेकर बच्चों और बूढ़ों तक की समस्याओं से जूझती समकालीन कविता वर्तमान जीवन के हर पक्ष तक आवा जाही करती है। बच्चों पर लिखी कविताएँ भी इसी क्रम में हैं जिनमें बच्चों की जीवन-स्थितियाँ, उनकी मानसिकता एवं उनके जीवन में आनेवाले बदलावों पर विमर्श प्रस्तुत हुआ है।

बच्चों की दुनिया बड़ों की दुनिया से भिन्न होती है। उसमें एक तरफ सहज भोलापन होता है तो दूसरी ओर शरारतीपन और खिलदड़ा निश्चित स्वभाव। लेकिन यह स्थिति सभी बच्चों की नहीं होती है। बहुत से बच्चों को अभावों के कारण काम पर भी जाना पड़ता है। खेलने-पढ़ने की उम्र में वे जीवन की सारी जिम्मेदारियाँ ओढ़ लेते हैं।

इसी तरह तमाम सामाजिक राजनीतिक घटनाएँ एवं स्थितियाँ बाल मन की आशाओं-उमंगों को ग्रहण लगाती हैं। सांप्रदायिक दंगे और युद्ध आदि के समय बच्चे सर्वाधिक प्रभावित होते हैं। वर्ण-व्यवस्था का दंश, तकनीकी विकास या बाजार की दखलंदाजी से भी बाल-मन बेहद प्रभावित होता है। संयुक्त परिवारों की टूटन तथा एकल परिवारों की नई व्यवस्था ने बच्चों को बेहद अकेला बना दिया है। इस अकेलेपन ने उनमें खीझ, झुंझलाहट और नकली आक्रोश भर दिया है। कम्प्यूटर, इंटरनेट और मोबाइल ने उन्हें और अधिक अंतर्मुखी तथा

स्वकेंद्रित बना दिया है। इन सबका उनकी मानसिकता पर गहरा असर हुआ है। समकालीन कविता इन सभी स्थितियों की गहन पड़ताल करती है। हेमंत कुकरेती की 'कुछ बच्चे और कई बच्चे' कविता बच्चों के जीवन का बहुपरतीय यथार्थ खोलती है। कविता का आरंभ बच्चों के सरल स्वभाव का उल्लेख करते हुए होता है कि 'बिस्कुट जैसी होती है बच्चों की हँसी/और गुस्सा चाकलेट की तरह।' आगे चलकर यह कविता इस बात का खुलासा करती है कि बच्चों की दुनिया बड़ों की दुनिया से अलग होती है। अतः बड़ों की दृष्टि से उनके बारे में फैसला करना एक अपराध है लेकिन बड़े अपने इस अपराध के लिए उनसे माफी न माँगकर वादे करते हैं और अपनी हार को अगले दिन पर टाल देते हैं। यहीं कवि वर्ग विषमता के भयानक सच को उजागर करते हुए कहता है-

*कई बच्चों के लिए रोटी पहेली की तरह है*

*और जीवित बच जाना आश्चर्य जैसा*

*सिर्फ शर्मिदा ही हुआ जा सकता है इस सच पर कि/*

*सभी बच्चों की हँसी बिस्कुट जैसी नहीं होती*

*और गुस्सा चाकलेट की तरह... (चाँद पर नाव, पृ. १६)*

वर्ग विषमता का यही सच इनकी एक अन्य कविता 'दूसरे बच्चे' में भी व्यक्त हुआ है। उच्चवर्गीय पिता जब अपने बच्चे के लिए खिलौने खरीद रहा होता है तो उसे एक और बच्चा बड़ी उम्मीद से देख रहा होता है। वे आपस में फुरसत में उस दूसरे बच्चे के बारे में बहस तो करते हैं किंतु उस बहस का कोई भी शब्द उस बच्चे के 'खाली पेट' और 'रीती आँखों' को नहीं देखता। उनकी यह संवेदनहीनता क्रूरता की हद तक पहुँच जाती है। अपने बच्चे को हँसता हुआ देखकर पिता इतने जोर से हँसते हैं कि दुनिया के दूसरे बच्चे अपनी भूखी नोंद से उठकर रोने लगते हैं। उनके वर्गगत अहंकार का अहसास कराते हुए कवि ने लिखा है-

*अपने बच्चे को वे/हँसने का सलीका सिखाते हैं कि/*

*अगर वह हँसे उनकी तरह/ तो उसे मिलेंगे/और भी अच्छे खिलौने। (वही, पृ. १७-१८)*

इस अहंकारजन्य हँसी का प्रभाव उन गरीब बच्चों पर इतना अधिक होता है कि वे असुरक्षा अनुभव करने लगते हैं-

*न जाने कहाँ से सुनकर/उनकी आवाज़/कुछ बच्चे अपनी फटी कमीजों के नीचे/छुपा लेते हैं रात की रोटी। (वही, पृ. १८)*

'खेलने की उम्र' कविता में कुकरेती ने बाल जीवन का एक अलग यथार्थ व्यक्त किया है। बड़े होने पर जीवन की तमाम जिम्मेदारियों को निभाते हुए निश्चित भाव से खिलौनों के साथ खेलने की फुरसत कहीं खो जाती है। किंतु कवि इसके प्रति भी आशावित हैं-

उनसे खेलने की उम्र/मेरे जीवन के बक्से से निकलकर/खो गई है कहीं/

किसी दिन वह भी/ मुझे मिल ही जाएगी/ ठीक खिलौनों के इस बक्से की तरह...(खेलने की उम्र, वही, पृ. २०)

बच्चों के शरारती स्वभाव में ही उनका बचपन झलकता है। यदि यह शरारतीपना गायब हो जाता है तो बच्चों के भीतर भय घर करने लगता है, जिससे उनकी स्वाभाविकता खत्म होने लगती है। कात्यायनी ने 'प्रार्थना', 'सबक' और 'बस्ता' शीर्षक कविताओं में इस बात पर चिंता व्यक्त की है कि आज कल बच्चों को डराया जा रहा है क्योंकि 'बच्चे उधमी होते जा रहे हैं/सिरदर्द बनते जा रहे हैं बच्चे/ इन्हें सबक सिखाना ज़रूरी है।' उन्हे बच्चों के प्रार्थनारत होने में 'अनजाने विराट भय के समक्ष श्रद्धानत' होना दिखायी देता है। उनके अनुसार बच्चे जीवन की शुरुआत प्रार्थना से करते हैं, अनजाने अबूझ अपराधों के लिए क्षमा माँगते हैं लेकिन इससे उनमें अविश्वास और आत्मविश्वासहीनता पैदा होती है। इसीलिए वे कहती हैं-

बच्चों को कातर न बनाया जाए/तो चुनौती बन जाते हैं।

बच्चों को कातर बनाया जा रहा है। (कवि ने कहा : कात्यायनी, पृ. ७२)

इसी धारणा के कारण 'बस्ता' कविता में पीठ पर कूबड़ का बोझ ढोता हुआ बूढ़ा बच्चों को दाँत निकालकर डराता है और बच्चे बस्ता लेकर स्कूल जाने से डरते हैं। इसी कारण वे 'एक बगावती प्रार्थना' करते हैं जिसमें इस जगत को स्कूलों से मुक्त करने या उन्हे ही किडनैप कर लिए जाने की इच्छा व्यक्त होती है। वे बस्तों में किताबों की जगह चॉकलेट या मिसरी की डलियाँ चाहते हैं। वे मास्टर्स को हैजा होने और बाढ़ में स्कूल डूब जाने की प्रार्थना भी करते हैं। लेकिन अंतिम पंक्तियाँ शिक्षा व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं-

शिक्षा को लेकर बहस करनेवाले और नीतियाँ बनाने वाले

सभी शिक्षा शास्त्री/सीधे पागलखाने जाएं।

यह बगावती प्रार्थना छोटी कक्षाओं में ही शिक्षा के बोझ बन जाने और बच्चों के सहज बालपन के खो जाने की प्रतिक्रिया है। बचपन में शरारतें करना बाल स्वभाव होता है जो उनमें अन्याय विरोधी निडरता भी निर्मित करता है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कविता 'शरारती बच्चा' भी इसी भाव बोध को व्यक्त करती है। जाड़े की सुबह तलमलाते पैरों पीठ पर बस्ता लादे स्कूल जाता बच्चा प्रातः भ्रमण पर निकले मरियल राज पुरुषों और तोंदियल महिलाओं को मुँह बिराता, साथियों को लंगड़ी मारता, चिकोटी काटता या सीटी बजाता है। यह गुरुजनों और बृद्धजनों को चिढ़ाता भी है लेकिन कवि उस बच्चे के पिता से यही चाहता कि उसे न मारे क्योंकि-

अगले राजपर्व पर/जब निकलेगा राजा निर्वस्त्र/ और उसके अदृश्य अलौकिक वस्त्रों

की/

करेंगे जयकार/ प्रज्ञाक्षु कलाकार/ तो यही बच्चा टोकेगा चिल्लाकर/अरे, यह राजा तो नंगा है। (कवि ने कहा : विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ. ११३)

खिलौना बचपन की दुनिया का सर्वाधिक प्रचलित आकर्षण होता है। अनेक कवियों ने खिलौने के विविध प्रसंगों के माध्यम से बाल मन के भीतर झाँकने का प्रयत्न किया है। मंगलेश डबराल ने 'खिलौने' कविता के माध्यम से वर्ग-विषमता की पीड़ा और विवशता बड़े ही सहज ढंग से व्यक्त की है। खिलौनों की सजी हुई दुनिया की ओर हाथ बढ़ाने वाले बच्चे किसी और ही दुनिया के लगते हैं जिनके पास सुविधा संपन्नता है। इसीलिए शहर में नई खुली खिलौना-निर्माता कंपनी बच्चों की बढ़ती दुरवस्था पर तरस खाती है। संसार के सबसे महँगे खिलौने की सीटी सुनाने वाले शहर के व्यापारी की आवाज सुनकर कुछ बच्चे उसकी झलक देखने को टकटकी बाँधे खड़े होते हैं। उन्हे घसीटकर घर ले जाते दिखते हैं। उनके परेशान माँ-बाप। इसके विपरीत एक कमजोर खिलौना उससे भी कमजोर बच्चे के हाथ में दिखता है। इस विडंबना को कवि ने इस तरह व्यक्त किया है—

वह जब भी भूख से रोता/माँ उसकी थमा देती उसे खिलौना/

क्या करूँ यह बच्चा है दुष्ट/ क्यों नहीं पैदा हुआ यह अमीरों के घर में/

चाहता है तरह-तरह के खिलौने/कल ही लायी बाजार से बीस हजार का एक (कवि ने कहा : मंगलेश डबराल, पृ. ६१-६२)

चंद्रकांत देवताले की कविता 'थोड़े से बच्चे और बाकी बच्चे' भी वर्गीय अंतराल का यथार्थ बयान करती है। कवि मानता है कि थोड़े से बच्चों के लिए एक बगीचा है उनके पाँव दूब पर दौड़ रहे हैं। इसके विपरीत असंख्य बच्चों के लिए कीचड़ धूल और गंदगी से पटी गलियाँ हैं जिनमें वे अपना भविष्य खोज रहे हैं। सिर्फ कुछ बच्चों के लिए एक आकर्षक स्कूल और प्रसन्न पोशाकें हैं किंतु बाकी बच्चों का हुजूम टपरों के नसीब में उलझ गया है। उनकी फटी चड्ढी उन्हे सीधा खड़ा होने से भी रोकती है। इन गरीब बच्चों का यथार्थ चित्रित करते हुए कवि लिखता है-

ढेर सारे बच्चे/सार्वजनिक दीवारों पर गालियाँ लिख रहे हैं/

ढेर सारे बच्चे बीड़ी के अद्धे ढूँढ़ रहे हैं/ ढेर सारे बच्चे होटलों में/

कप बसियाँ रगड़ रहे हैं/उनके चेहरे मेमनों की तरह दयनीय हैं। (कवि ने कहा : चंद्रकांत देवताले, पृ. ४३)

इसी तरह दोनों वर्गों की तुलना करते हुए कवि इस सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करता है कि जब पाँच बच्चे तबला बजा रहे हैं, दो बच्चे सितार और एक बच्ची कल्यक में थिरक रही है, तब ढेर सारी बच्चियाँ गोबर-लीद ढूँढ़ते रहने के बाद अंधेरे में दुबक रही हैं-

लड़कियाँ नदी-तालाब-कुआँ/घासलेट माचिस फंदा/

ढूँढ़ रही हैं/और इसी वक्त/ एक लड़की चेहरे की कोमलता बाबत / रेडियो से नुस्खा बता रही है। (वही, पृ. ४५)

इस तरह असंख्य बच्चे अंधेरे के बोगदे की तरफ दौड़ते जा रहे हैं किंतु कवि आशाञ्चित है। इसीलिए वह विश्वास व्यक्त करता है-

और उनके पास आवाजों का महासागर है/ जो छोटे से गुब्बारे की तरह/ फोड़ सकता है किसी भी वक्त/ अंधेरे के सबसे बड़े बोगदे को। (वही, पृ. ४५)

यही विश्वास मंगलेश डबराल ने 'बच्चों के लिए चिट्ठी' कविता में व्यक्त किया है। कवि जीवन को एक युद्ध स्थल बताने और लड़ते रहने के अपने ही कथन को झूठ बताता है और यह भाव प्रकट करता है कि जीवन एक उत्सव है जिसमें बच्चे हँसी की तरह फैले हैं। उनके अनुसार जीवन एक हरा पेड़ है जिस पर बच्चे चिड़ियों की तरह फड़फड़ाते हैं। जीवन एक उछलती हुई गेंद है और बच्चे उसके चारों ओर एकत्र चंचल पैरों की तरह हैं। (कवि ने कहा, मंगलेश डबराल, पृ. ७४)

बच्चों के वर्तमान यथार्थ को आधार बनाकर राजेश जोशी ने तीन चार बड़ी ही महत्वपूर्ण कविताएँ लिखी हैं। इनमें 'बच्चों की चित्रकला प्रतियोगिता', 'बच्चे काम पर जा रहे हैं', 'खिलौना' और 'हमारे समय के बच्चे' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'बच्चों की चित्रकला प्रतियोगिता' में राजेश जोशी ने बड़ी सहजता से यह संकेत दिया है कि दुनिया को सुंदर बनाने के प्रयास में बड़ों ने बच्चों की भावनाओं का बिल्कुल ख्याल नहीं रखा। उन्होंने दुनिया के चित्र में सूरज, चाँद सितारे बनाए, हरे-भरे पेड़, पहाड़, नदियाँ और झरने भी बनाए। यहाँ तक कि मकान, सड़कें और पुल बनाए। उन्होंने बसें, स्कूटर और कारें भी बनायीं। कवि का मानना है कि लोगों ने चीजों को बनाने के उत्साह में चित्र इतना भर दिया है कि गेंद को रखने की जगह ही नहीं बची है-

चीजों को बनाते चले जाने के उत्साह में/इतना ज्यादा भर गया चित्र/  
कि गेंद को रखने की कोई जगह ही/ नहीं बची चित्र में/  
तब समझ आया उन्हें/ कि बड़ों ने कैसी-कैसी गलतियाँ की हैं/  
इस दुनिया को बनाने में। (कवि ने कहा : राजेश जोशी, पृ. ५९)

समकालीन कवियों ने उन बच्चों के जीवन के प्रति अपनी चिंता अधिक प्रकट की है जो खेलने की उम्र में ही मजदूरी करने के लिए विवश हैं। इब्बार रब्बी की कविता 'आठ साल का पानसिंग' स्कूल जाने की उम्र में दिल्ली जाकर पीठ पर दुनिया उठाने का हौसला बाँधता है-

बस मनीऑर्डर करेगा जाते ही/दुनिया उठाएगा/पीठ पर। (लोगबाग, इब्बार रब्बी, पृ. ६७-६८)

बोधिसत्व ने काम करनेवाले इन बच्चों को जोगी की तरह 'जूतों' की तलाश में घूमते हुए दर्शाया है जो यश और मोक्ष नहीं निस्तेज जूतों की तलाश करते हैं-

जूतों की तलाश में/घूमते हैं ब्रश लेकर/और मिलते ही बिना देर लगाए/  
ब्रश को गज की तरह चलाने लगते हैं/ जूतों पर/ गोया जूते उनकी सारंगी हों/  
यश और मोक्ष नहीं/निस्तेज जूतों की तलाश करते हैं वे। (हम जो नदियों का संगम है, पृ. ३३)

बाल-श्रम का यही दृश्य अशोक चक्रधर की कविता 'बूढ़े बच्चे' में दिखायी देता है। सुबह से शाम तक कागज मोड़ने वाले बच्चे का अतीत और भविष्य इसी प्रेस से जुड़ा है-  
और वह जो लीथो पर/इनके या उनके भाषणों की/खबरवाला/ लाल नीले रंगों में/  
पोस्टर निकालता है/वह खुद लाल-नीली स्याही से/ पोस्टर बना खड़ा है/  
क्या आपने कभी/ इस पोस्टर को पढ़ा है? (अन्यथा अंक ५, नवंबर, २००५, पृ. २१)

बूट पॉलिश करने वाले बच्चे हों या पोस्टर बनाने वाला बच्चा, कवि का प्रश्न उठाना सीधे-सीधे मानवीय संवेदनाओं की पड़ताल करना है। आखिर विकास के वे कौन से मानदंड हैं, जिसके तहत बच्चों को बच्चों की तरह बड़े होने का अधिकार नहीं होता। इन सवालों को और अधिक मुखर रूप में राजेश जोशी की कविता 'बच्चे काम पर जा रहे हैं' उठाती है। बच्चों के काम पर जाने को कवि अपने समय की सबसे भयानक पंक्ति कहता है। कवि का मानना है कि इस घटना को विवरण की तरह लिखा जाना अधिक भयावह है। इसे तो लिखा जाना चाहिए एक सवाल की तरह। बच्चों के काम पर जाने की यह उमर नहीं है। उन्हें तो गेंदों से खेलना चाहिए रंगबिरंगी किताबों को पढ़ना चाहिए। यह समय उनके मैदान, बगीचे और आँगन में खेलने का है। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हो रहा। इसीलिए कवि प्रश्न करता है —

तो फिर बचा ही क्या है इस दुनिया में?  
कितना भयानक होता अगर ऐसा होता  
भयानक है लेकिन इससे भी ज्यादा यह  
कि हैं सारी चीजें हस्वमामूल  
पर दुनिया की हजारों सड़कों से गुजरते हुए  
बच्चे, बहुत छोटे-छोटे बच्चे  
काम पर जा रहे हैं।

बच्चों के काम पर जाने की निवशता और समाज में खत्म होती हुई संवेदनशीलता को एक साथ बड़े ही तलख अंदाज में यह कविता उजागर करती है। इसी तरह भगवत रावत ने 'कचरा बीनेवाली लड़कियाँ' कविता में चौपायों सी कूड़े के ढेर पर चलती-फिरती कचरा बीनेवाली लड़कियों के जीवन का अभाव और कटु यथार्थ को व्यक्त किया है। अपने आस पास घूमते सूअरों के बीच वे कैसी लगती हैं, यह सवाल समाजशास्त्र के कोर्स के बाहर का है और सौंदर्यशास्त्र उनके लिए अभी बना नहीं है। हाँ, वे 'कलात्मक फोटोग्राफी के लिए

मसाला जरूर हो जाती हैं।' कवि इनके अकेलेपन, संघर्ष और जिजीविषा की ओर संकेत करते हुए कहता है—

*दूँढ़ने पर भी इनके बाप का पता नहीं मिलता/ इनका कहीं को भाई नहीं दिखता/  
यहाँ तक कि खुद ही/ अपनी माँ होती हैं/ ये कचरा बीननेवाली लड़कियाँ।* (कवि ने कहा,  
भगवत रावत, पृ. ७५)

केदारनाथ सिंह की कविता 'बबूल के नीचे सोता बच्चा' अभावों के बीच पल रहे बचपन में छिपी अपार संभावनाओं का संकेत करती है। बबूल के नीचे बासी रोटी, टिन के डिब्बे और खाली टोकरी के साथ सो रहे बच्चे को काँटे थपकियाँ देते हैं और माटी झूला झुलाती है। ऐसे खुदरे यथार्थ के बीच पल रहे बच्चे की तुलना अंतरिक्षयान से करते हुए कवि ने उसके जीवन के उज्वल भविष्य की घोषणा की है—

*दिल्ली से कह दो/हरिकोटा से कह दो/ दुनिया के सारे राडारों से कह दो/  
एक अभी-अभी बना/अंतरिक्षयान सो रहा है/बबूल के नीचे।* (सृष्टि पर पहरा, पृ. ६३)

इस संभावना का आधार है कठोर श्रम। इसलिए कवि इस श्रम की अहमियत भी स्वीकारता है। बिना उसके अंतरिक्ष की उड़ान संभव नहीं है —

*नहीं... नहीं.../अभी उल्टी गिनती शुरू मत करो/ अभी उड़ने में देर है/  
माँ अभी व्यस्त है सोहनी में/ दूध अभी गरम हो रहा है/पसीने की आँच पर।* (वही, पृ. ६३-६४)

राजेश जोशी की 'खिलौना' कविता २०वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और २१वीं सदी में हो रहे परिवर्तनों के कारण बच्चों के स्वभाव में आ रहे परिवर्तनों की सांकेतिक पड़ताल करती है। इसमें संयुक्त परिवारों की टूटन, एकल परिवारों का आरंभ, अकेलेपन का शिकार होते बच्चे, सामाजिक एवं तकनीकी बदलावों के कारण बच्चों की बदलती इच्छाएँ, बाजार, नकली उत्तेजना और हिंसा आदि सब कुछ बड़ी बारीकी से व्यक्त किया गया है।

रिमोट कंट्रोल से चलनेवाला यह खिलौना थोड़ा मजेदार भी है और क्रूर भी। उसमें नए समय की खूबियाँ भी हैं और बदसूरतियाँ भी। युवा इंजीनियर अब खिलौनों की डिजाइन बनाने लगे हैं। अतः वे पहले से कहीं ज्यादा सुंदर कहीं ज्यादा बेहतर और मुकम्मल हो गए हैं लेकिन हर परिवर्तन नई समस्याओं को भी पैदा करता है। संयुक्त परिवारों के टूटने और एकल परिवारों के आकार लेने की भी अलग समस्याएँ होती हैं जो कवि को परेशान करती हैं—

*मथ रहा था एक ही विचार  
कि बच्चे अकेले होते जाएँगे*

*कि हर तब्दीली के बाद बच्चे अकेले होते जाएँगे दिनोदिन।* (पृ. १२६, कवि ने कहा, राजेश जोशी)

कवि संकेत करता है कि विकसित होते हुए एक गरीब समाज की कई पेचीदमियाँ होती हैं। एक को सुलझाने में दूसरी उलझ जाती हैं। एकल परिवार वाले पति पत्नी दोनों के काम पर जाने का नतीजा था झूलाघरों का बच्चों का अकेलापन और झूलाघरों का चलन। लेकिन बच्चों से जुड़ी एक और समस्या खड़ी हो जाती है—

*..खिलौनों का बाजार  
प्लास्टिक की नकली बंदूकों, मशीनगनों, पिस्तौलों,  
टैंकों जैसे खिलौनों से भर गया  
बच्चों के अकेलेपन को एक नकली और हिंसक उत्तेजना  
से भरने की एक भयावह कोशिश की जा रही थी  
हमारा अन्याय और हमारी हिंसा जो हमेशा ही  
गरीब बाल मजदूरों और भिखारी बच्चों के सामने  
एक दुत्कार की तरह प्रकट होती है  
अब हमारे खिलौनों में प्रकट हो रही थी।*

बच्चों के अकेलेपन को नकली और हिंसक उत्तेजना से भरने के प्रयास का भी गहरा असर बाल-मन पर होता है। इनके दुष्भावों से बालपन को बचाने के लिए एक युवा इंजीनियर बच्चों के खिलौनों का एक नया संसार रचना चाहता है लेकिन उस पर भी बाजार का दबाव पड़ता है। फिर भी वह बदलते समय के साथ उत्पन्न हो रही बाल जीवन की समस्याओं का समाधान खोजने का प्रयास करता है। उसका मानना है कि सिर्फ बच्चों की जरूरतें समझ लेने से बाल मन की पहलियाँ नहीं सुलझेंगी। इसके लिए खिलौनों की दुनिया को पूरी तरह बदलना होगा। बाहर की दुनिया में आ रहे बदलावों के अनुरूप बच्चों की इच्छाएँ भी बदल रही हैं। इन स्थितियों का विश्लेषण करते हुए कवि कहता है —

*बदल रहे हैं तुम्हारे सपने और तुम्हारा व्यवहार  
इस दौर के बच्चों के पास बहुत कुछ ऐसा है  
जो पहले के बच्चों को कभी नसीब नहीं हुआ  
लेकिन बहुत कुछ ऐसा नहीं भी है  
जो मिल जाता था पहले के बच्चों को बहुत आसानी से।* (कवि ने कहा : राजेश जोशी, (पृ. १२७)

यह बहुत कुछ ही संयुक्त परिवार में सहज ही मिलने वाला स्नेह-दुलार था, ममत्व था जो बच्चों को अकेला नहीं होने देता था। बेशक आज बच्चों के पास सुविधाएँ हैं, तकनीक है, मोबाइल कम्प्यूटर और इंटरनेट की दुनिया है। रिमोट कंट्रोल से चलनेवाले खिलौने हैं, लेकिन इन सबके साथ अकेलापन है और उस अकेलेपन के कारण उत्पन्न खिझ, आक्रोश और हिंसा भी है। आज आवश्यकता इस समस्या की ओर ध्यान देने की है। अतः कवि 'बहुत कुछ ऐसा नहीं भी है' की ओर जो संकेत करता है, वह सहज वात्सल्य से मिलने वाली संवेदनशीलता भी

है जो बच्चों और उनके खिलौनों से भी खत्म होती जा रही है। इसीलिए युवा इंजीनियर बाजार की इच्छा के बीच अपने स्वप्न भी खिलौनों में रख देता है और कवि रिमोट से चलने वाले खिलौने को छूते समय बनाने वाले कलाकार के सपनों को भी छूने की कोशिश करने का सुझाव देता है। इस रूप में यह कविता तकनीकी विकास के साथ-साथ खिलौनों के बदलते स्वरूप और बालमन की बदलती इच्छाओं के आक्रामक और हिंसक होते जाने के साथ-साथ उनमें बढ़ती संवेदनहीनता के प्रति कवि की चिंता प्रकट करती है।

भौतिक और तकनीकी विकास ने बच्चों के जीवन को पूरी तरह बदल दिया है। अब ये बच्चे उतने बच्चे नहीं लगते। इस ओर संकेत करनेवाली राजेश जोशी की एक और महत्वपूर्ण कविता है-‘हमारे समय के बच्चे।’ कवि आज के बच्चों पर एक महत्वपूर्ण टिप्पणी करते हुए कहता है कि इन बच्चों में हम अपना बचपन नहीं खोज सकते क्योंकि नई चीजों के बारे में ये हमसे बहुत ज्यादा जानते हैं। ये बिना किसी झिझक के तकनीकी उपकरणों की बटन दबाना शुरू कर देते हैं। इन्हें न तो कोई घबराहट होती है और न ही गलती हो जाने की आशंका। विश्वास से भरे ये बच्चे गलतियों से बाहर निकलने के सारे रास्ते जानते हैं तकनीकों का सारा रहस्य ये जानते हैं। जो नहीं जानते उन्हें खोज लेते हैं। कवि इनकी सही बानगी पेश करता है कि—

इनकी आँखों में सपनों से ज्यादा महत्वाकांक्षाएँ हैं  
सफलता के सारे गुर इनकी निगाह में हैं  
इनमें बेचैनी नहीं थोड़ी हड़बड़ी है  
और बहुत जल्दी है इन्हें  
इन्हें तेज गतियाँ चाहिए और बहुत तेज रोशनियाँ  
बहुत तेज है इनके संगीत की लय  
इनके लिए तारीख बदर हो चुकी है हमारी सारी जानकारियाँ  
हमारी हिचक और हमारा धीमापन  
कभी-कभी अजीब-सी झुँझलाहट से भर देता है इन्हें। (प्रतिनिधि कविताएँ : राजेश जोशी,  
(पृ. १२४)

कवि यह संकेत करता है कि यह समय ज्ञान के सूचनाओं में तब्दील होने का समय है। इसलिए इन बच्चों की समाज, राजनीति या साहित्य जैसे विषयों में दिलचस्पी खत्म हो रही है। वे साहित्य या समाज संबंधी जानकारी भी ‘सूचना’ के रूप में इंटरनेट से खोज लेते हैं। इस सदी की सारी जानकारी का जिन्न वे इंटरनेट को ही मानते हैं। इसका अहंकार भी उनमें झलकता है। कवि चिंतित है कि इनकी भाषा बदल चुकी है, वाक्य-विन्यास बदल चुका है। ठहरकर सोचना और पीछे मुड़कर देखना इनकी आदत में नहीं है। कवि का आकलन है कि—

इतने आक्रामक आकर्षक और बेआवाज हैं इनके जूते  
कि किसी स्वप्न के उनके नीचे कुचल जाने की भी  
कोई आवाज सुनाई नहीं देगी कभी  
हमारे समय की इस भयावह फैटेसी में  
किसी अदृश्य दैत्य की उँगली थामे जाते हुए लगते हैं कभी-कभी  
हमारे समय के ये बच्चे। वही! (पृ. १२५)

सूचना और तकनीकी उपकरणों को प्राधान्य देनेवाले इस युग में बच्चों में आ रहा यह परिवर्तन संवेदनाओं और भावनाओं को कोई महत्व नहीं देता। ‘स्वप्न के कुचले जाने’ की चिंता और अदृश्य दैत्य की उँगली थामे चल रहे बच्चों का खतरा कवि को लगातार बेचैन करता है। युद्ध या सांप्रदायिक दंगों के समय बच्चे, बूढ़े और स्त्रियाँ सर्वाधिक प्रभावित होती हैं। लेकिन केदारनाथ सिंह की चिंता खत्म होती जा रही संवेदनशीलता को लेकर है। ईराक युद्ध में घायल लड़के की चेहरे से लटककर हवा में झूलती आँख देखकर कवि की प्रतिक्रिया इसी ओर संकेत करती है —

बंद कर दो टी.वी./अगर जला न सको उसे/ अगर जला न सको उसे/इनकार करता हूँ  
मैं कि मैं कवि हूँ/ और देख रहा हूँ इन्हीं आँखों से/ एक शिशु आँख हवा में झूलती हुई/ नहीं  
मुझे सोने नहीं देगी/वह शिशु-आँख-कई रातों तक/रोने नहीं देगी मेरी अपनी ही आँख/ जो  
खो चुकी है फूट कर रोने की क्षमता। (तालस्ताय और साइकिल, पृ. ७०)

सांप्रदायिक दंगों के समय बच्चों की स्थिति का बयान करने वाली विष्णु खरे की बड़ी ही चर्चित कविता है—‘शिविर में शिशु’। एक चादर पर पंद्रह शिशु लिटाए गए हैं। वे उन पैतालीस में से हैं जो दंगों के बाद के कुछ हफ्तों में एक राहत शिविर में पैदा हुए हैं। उन्हें पता नहीं है कि जिस घर और कुनबे के वे हैं उनके साथ क्या हुआ—

चूँकि ये एक मुस्लिम राहत शिविर में पैदा हुए हैं  
इसीलिए इन्हें मुसलमान शिशु कहा जा सकता है  
वर्ना इस फोटो से पता नहीं चल पा रहा है  
कि ये किसकी संतान हैं।

२४ फरवरी को ऐसा फोटो यदि गोधरा स्टेशन पर लिया जा सकता  
तो ये हिंदू माने जाते

क्योंकि इन औरतों के चेहरों और पहनावे से

हिंदू मुसलमान की शिनाखा नहीं हो पा रही है। (कवि ने कहा : विष्णु खरे, पृ. ९)

सांप्रदायिक स्थितियाँ तय करने के ये मानदंड कितने खतरनाक हो सकते हैं, इसका अंदाजा भी नहीं लगाया जा सकता। कवि मानता है कि इन पंद्रह मुस्कराते बच्चों का एक भी दाँत अभी आया नहीं है। ‘एक भी दाँत न आना’ उनके कहीं से भी खतरनाक न होने का

संकेत है। कवि की चिंता न सिर्फ इन बच्चों को बचाने की है बल्कि उन्हें हिंदू या मुसलमान बनकर जीने से भी बचाना है। इसीलिए वह इन बच्चों से कहना चाहता है कि—

यदि तुम्हें नफरत करनी ही है तो हम जैसों से करो  
और उस सबसे जिसने हमें वैसा बना डाला था  
तुम्हें अगर इंतकाम लेना ही है तो हम सरीखों से लो  
जिनसे तुम सरीखे बचाए नहीं जा सके। (वही, पृ. ३०)

कवि जानता है कि यह सब पहले भी कहा जा चुका है फिर भी यह हर बार कहा जाना ही चाहिए। कवि सिर्फ बच्चों को नहीं, बल्कि उनकी खुशी और मुस्कान को भी बचाना चाहता है। उसका विश्वास है कि —

हाँ ये यकीन दिलाते से लगते हैं कि इन्हें देखकर जो ममता जागती है  
अंततः शायद वही बचा पाएगी इन्हें और हमें।  
उन्हें बचाये क्योंकि एक दिन शायद इन्हीं में से कुछ बचाएँगे  
अपनों को हम जैसों को और उस सबको जो बचाने लायक है  
और शायद बनाएँगे वह  
जो मिटा दिया जाता है जला दिया जाता है फिर भी बार-बार जन्मता हुआ। (पृ. १०)

इस तरह यह कविता हिंदू या मुसलमान को नहीं बल्कि उन बच्चों को बचाने की बेचैनी प्रकट करती है।

इस तरह समकालीन कविता बच्चों के जीवन के हर पहलू की गंभीरता से पड़ताल करती है। वर्ग-विषमता, अभाव और चुनौतीपूर्ण स्थितियों के बीच संघर्षरत बच्चे अधिकतर सफल होते हैं। लेकिन इन कवियों की स्पष्ट धारणा रही है कि बच्चों का बचपन बचाने की कोशिश की जानी चाहिए। बचपन में ही सबकी जिम्मेदारियाँ उठाने वाले पढ़ने-लिखने की उम्र में ही बुजुर्ग लगाने लगते हैं। तकनीकी विकास भी बच्चों में अकेलापन, खीझ और नकली आक्रोश भर देता है। अतः उनकी मानसिकता में बदलाव आ जाता है। समकालीन बच्चों की इन सभी स्थितियों के प्रति बेहद संवेदनशील और उनके जीवन की बेहतरी के लिए प्रतिबद्ध दिखायी देता है।

□ □

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग  
के. जे. सोमैया कॉलेज, विद्याविहार, मुंबई-७७

## आकलन

● डॉ. अरुणा दुबलिशा

## आवारा मसीहा : एक सर्जनात्मक प्रस्तुति

लगभग सौ कृतियों के सफल लेखक विष्णु प्रभाकर के यश का एकमात्र आधार यदि भविष्य में केवल 'आवारा मसीहा' को ही माना जाएगा तो यह अत्युक्ति न होगी। स्वयं प्रभाकर जी भी अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना इसी कृति को मानते हैं। सन् १९५६ से १९७३ तक लगातार चौदह वर्ष के समर्पण के बाद यह कृति आकार पा सकी। यह जीवनी होते हुए भी किसी भी रोचक से रोचक उपन्यास से अधिक रोचक है। लेखक के ही शब्दों में— 'आवारा मसीहा' की सफलता का एक कारण तो रहे स्वयं शरत्चंद्र। उस आदमी का जीवन इतना विचित्र है, उसको लोगों ने कभी समझा नहीं। मेरा तो इतना ही योगदान हो सकता है कि मैंने सही शरत्चंद्र को सामने ला दिया। उनका जीवन इतना कलरफुल है कि मुझे उसमें बहुत ज्यादा कल्पना करने की जरूरत नहीं थी। मुझे बड़ी खुशी हुई कि बंगाल ने उसे अद्भुत कहा... शरत्चंद्र की जीवनी लिखकर मुझे मनुष्य को समग्रता में देखने की दृष्टि मिली। (भूमिका)

इसमें कोई संदेह नहीं कि यह कृति मानवीय चरित्र की विविधता का सुंदर निदर्शन है। शरत्चंद्र का जीवन विरोधाभासों का अद्भुत जंगल है। एक ओर जहाँ वे वेश्यागामी, नशाखोर आवारा के रूप में चर्चित हुए, वहीं दूसरी ओर मानवीय महिमा से मंडित भी रहे। इसीलिए एक स्थान पर उन्होंने कहा भी, 'मेरा जीवन अंततः मानों एक उपन्यास ही है। इस उपन्यास ने सब कुछ किया, पर छोटा काम कभी नहीं किया। जब मरूंगा निर्मल खाता छोड़ जाऊँगा। उसके बीच स्याही का दाग कहीं भी नहीं होगा। मैंने अनीति का प्रचार करने के लिए कलम नहीं पकड़ी। मैंने तो मनुष्य के अंतर में छिपी हुई मनुष्यता को, उस महिमा को, जिसे सब नहीं देख पाते, नाना रूपों में अंकित करके प्रस्तुत किया है।'

ऐसे वैविध्यपूर्ण और चर्चित व्यक्तित्व के बारे में लिखना असाध्य नहीं तो श्रमसाध्य अवश्य ही है, विशेषकर इसलिए कि शरत के बारे में किंवदन्तियों की बाढ़ सी भरी हुई है— उनके विषय में सच्चाई को जानना, रेत को छानना है। इतने कष्टसाध्य कार्य को करने में

प्रभाकर जी को इसलिए भी कठिनाई हुई कि वे उनके समकालीन नहीं हैं और वहीं व्यक्ति किसी की जीवनी लिख सकता है जो उसके साथ खाता-पीता, उठता-बैठता और बोलता-वतियाता रहा हो। शरत्चंद्र की मृत्यु १६ जनवरी, रविवार, सन् १९३८ को इकसठ वर्ष चार मास की आयु में हुई। लेखक ने अपने कार्य का प्रारंभ १९५३ से किया। उस समय तक शरत्चंद्र की मृत्यु हुए लंबा अरसा बीत चुका था—यों भी विष्णु प्रभाकर का बंगाल से सीधे कोई संबंध नहीं रहा। वे हिंदी के लेखक हैं, किंतु शरत्चंद्र के भक्त उनके प्रति पूर्ण आस्था रखनेवाले और आस्था को लेकर इस कार्य का आरंभ उन्होंने किया। सबसे कठिनाई की बात यह थी कि बंगला साहित्याकाश के सबसे उज्ज्वल नक्षत्र सर्वश्रेष्ठ कथाशिल्पी उपन्यास सम्राट शरत्चंद्र की कोई भी संपूर्ण और प्रामाणिक जीवनी नहीं लिखी गई थी। इसीलिए लेखक को स्वयं उस काल के उन जीवित व्यक्तियों को ढूँढ़ना पड़ा जो शरत्चंद्र के समकालीन थे अथवा जिन्होंने शरत्चंद्र को किसी न किसी रूप में अवश्य ही देखा था। पुस्तक की सामग्री के तीन प्रमुख स्रोत लेखक ने बताए हैं। एक तो उन व्यक्तियों का साक्षात्कार जो किसी न किसी रूप में शरत् बाबू से संबंधित रहे। दूसरे, उनके समकालीन मित्रों के लेख—संस्मरण और तीसरे उनकी अपनी रचनाओं में इधर-उधर बिखरे वे स्थल और प्रसंग जिनका उनके जीवन से संबंध रहा।

जीवनी इतिहास भी है, साहित्य भी, इसके साथ-साथ वह व्यक्ति विशेष का ऐसा अध्ययन भी है जिसमें ईमानदारीपूर्वक उक्त व्यक्ति के जीवन की प्रधान-अप्रधान घटनाओं को संतुलित एवं जीवन-विकास क्रम की दृष्टि से प्रस्तुत किया जाता है। इसीलिए एक मराठी बंधु ने लेखक को सचेत किया था 'शरत् के भावी चरित्र लेखक को अंत में यही याद रखना होगा कि वे मनुष्य के भले बुरे गुणों से परे नहीं हैं।' चाहे जो भी हो, शरत् का जीवन कितना भी विवादास्पद रहा हो, लेखक की आस्था अपने प्रिय 'आवारा मसीहा' के प्रति निर्विवाद है और इसीलिए प्रत्येक स्थल इतना भावुक और मार्मिक बन पड़ा है कि शरत् का चरित्र निर्मल आकाश में शरत् का चंद्रमा ही सिद्ध हो गया। एक-दो उदाहरण इस प्रसंग में अप्रासंगिक न होंगे—

१) 'इस पलायन के साथ-साथ उसके जीवन रूपी नाटक का एक अंक जैसे समाप्त हो गया। उसकी आयु छब्बीस वर्ष की हो चुकी थी। यौवन का सूर्य मध्याकाश में था लेकिन जैसे ठंड और धने कुहरे ने उसे आच्छादित कर दिया था। श्रीकांत की तरह दूसरे की इच्छा से दूसरे के घर में वर्ष के बाद वर्ष रहकर वह अपने शरीर को कैशरीय से यौवन की ओर धकेलता रहा था, लेकिन मन को न जाने किस रसातल की ओर खदेड़ता रहा। उसका वह मन कभी लौटकर नहीं आया।' (पृ. ९४)

२) 'कुशल पूछने के लिए मित्रों का ताँता लगा रहता था। एक दिन असमंजस मुखोपाध्याय आये। देखा, वही घर, वही द्वार, वही दालान, वही सामने का बगीचा लेकिन सब कुछ निरासं। कुछ दिन पहले तक इन सबमें प्राणों का उत्साह था, मार्धुर्य का स्पर्श था, लेकिन अब वहाँ पर मानों प्राणहीनता की एक निष्करुण हवा चल रही है। व्यथित मन वे अंदर जाकर खड़े

हो गए। वह मनहूस स्तब्धता बार-बार लौट जाने को कहती थी, लेकिन बिना मिले कैसे लौट सकते थे।' (पृ. ४०३)

जीवन न केवल उक्त व्यक्ति का अपितु तत्कालीन समाज व परिस्थितियों का प्रामाणिक दस्तावेज होती है इसीलिए उसे ऐतिहासिक माना गया है-साहित्यिक विद्या होते हुए भी यह व्यक्ति विशेष की जीवन गाथा का ऐतिहासिक अध्ययन होती है। इसीलिए विष्णु प्रभाकर ने प्रस्तुत जीवन कथा में शरत् के संपूर्ण जीवन को आत्मीय शैली में इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि यह तत्कालीन समाज का प्रामाणिक दस्तावेज बन गई है। शरत् के प्रति लेखक की आस्था एवं वैयक्तिक सहानुभूति ने भी इस जीवनी कथा में रस व प्राणों का संचार कर दिया है।

यह जीवनी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शरत् के संपूर्ण जीवन पर आधारित है। शरत् बंगाल के ही नहीं, संपूर्ण भारत के अपराजेय कथाशिल्पी है। लेखक का उनके जीवन का चित्रण करते समय भावुक हो जाना स्वाभाविक है, फिर भी अतिरेक से लेखक ने अपने को बचाया है। शरत् के बचपन से लेकर मृत्यु तक की लगभग सभी घटनाओं को शोधपूर्वक छाँटकर, अपने हृदय रस से सिंचित करके लेखक ने तीन भागों में बाँट दिया है। पहले पर्व में 'दिशाहारा' शीर्षक के अंतर्गत विदा का दर्द, भागलपुर में कठोर अनुशासन, राजू उर्फ इंदनाथ से परिचय, रोबिन हुड, अच्छे विद्यार्थी से कथा-विशारद तक, वह युग नाना-परिवार से विद्रोह, शरत् को घर में मत आने दो, सृजन का युग, प्रेम की अपार भूख, जीवन मंथन से निकला विष, बंधुहीन, लक्ष्यहीन, प्रवास की ओर आदि शीर्षकों के अंतर्गत उनके बालपन से लेकर यौवन में प्रवेश तक की सभी घटनाओं को समाहित किया गया। शरत् का बचपन नाना के यहाँ बीता था। उनके पिता मोतीलाल सौंदर्यप्रिय, भावुक पर कर्महीन पुरुष थे। उनका मन किसी भी नौकरी में नहीं लगता था। उनके बाबा किसी जमींदार के यहाँ दीवन थे किंतु झूठी गवाही न देने के कारण जमींदार ने उनकी हत्या करवा दी। ऐसे बाबा की निर्भिकता, पिता की सौंदर्य व कलाप्रियता और माता की करुणामयता एवं सेवा भावना और दादी का साहस लेकर शरत् के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ था। बचपन इतना अभावग्रस्त था कि भोजन तक का कोई ठिकाना न था। अल्पाहारी शरत् मित्रों के साथ शरारतें करते हुए, दूसरों की सेवा सहायता करते हुए कब अपना बचपन छोड़ यौवन में प्रवेश कर गया, वह स्वयं नहीं जान सका क्योंकि गरीबी, अभाव और कठिनाइयों ने उसके स्वास्थ्य को अनुरूप विकास से वंचित रखा। हाँ मित्रों की दृष्टि से वह जरूर बहुत संपन्न माना जाना चाहिए। राजू जैसा मित्र उसका सखा ही नहीं गुरु भी था। वह अतीव दुस्साहसी, पर दुःखकातर और संगीत कुशल था। शरत् के जीवन पर उसका बहुत प्रभाव है और अपने अनेक उपन्यासों में विशेषकर श्रीकांत के इंदनाथ में शरत् ने उसी के चरित्र को उतारा है। राजू की मृत्यु ने भी उनके जीवन को छिन्न-भिन्न कर दिया। उन्हें दुबारा अपने नाना के यहाँ भागलपुर रहना पड़ा। माँ की मृत्यु ने उनके सांसारिक जीवन का ही अंत कर दिया। जीवन के विभिन्न कटु और तिक्त अनुभवों ने उसे मानव जीवन समझने की शक्ति दी। जिन स्त्रियों को संसार ने निंदनीय माना उन्हें ही शरत् ने महान समझा, 'विलासी



का जिन लोगों ने मजाक उड़ाया था, मैं जानता हूँ, वे सभी साधु, गृहस्थ और साध्वी गृहणियाँ थीं। अक्षय स्वर्ग और सतीलोक उन्हें मिलेगा, यह भी मैं जानता हूँ। पर वह सपरे की लड़की जब एक पीड़ित और शैर्यागत रोगी को तिल तिल कर जीत रही थी, उसके उस समय के गौरव का एक कण भी शायद आज तक उनमें से किसी ने आँखों से नहीं देखा। ...शास्त्रों के अनुसार वह निश्चय ही नरक गई है, परंतु वह कहीं भी जाए जब मेरा अपना जाने का समय आयेगा तब इतना तो मैं कह सकता हूँ कि जैसे ही किसी एक नरक में जाने के प्रस्ताव से मैं पीछे नहीं हटूँगा।' (पृ. ५०) दरिद्रता का यह हाल था कि विलक्षण प्रतिभा तीव्र बुद्धि के होते हुए भी मैट्रिक की परीक्षा में केवल इस कारण न बैठ सके कि शुल्क जमा करने के लिए पैसे न थे। पिता की मृत्यु के बाद देवानंदपुर सदा के लिए छूट गया, यहाँ उसका सारा जीवन घोर दारिद्र्य और अभाव में ही बीता। माँ और दादी के रक्त और आँसुओं से इस गाँव के पथ घाट भीगे हुए हैं। दरिद्रता के जो भयानक चित्र कथाशिल्पी शरत् ने शुभद्रा में खीचे हैं उनके पीछे निश्चय ही उसकी यह अभिज्ञता रही है। इसी यातना की नींव में उसकी साहित्य साधना का बीजारोपण हुआ। यहीं उसने संघर्ष और कल्पना से प्रथम परिचय पाया। इस गाँव के ऋण से वह कभी मुक्त नहीं हो सका। (पृ. ५२)

शरत् के बारे में फैले इतने अपवादों के मूलरूप से दो कारण थे—पहला शरत् अंतर्मुखी वृत्ति के व्यक्ति थे, उनके विषय में कौन क्या कह रहा है, इसकी उन्होंने न कभी चिंता की, न खंडन किया, फिर गल्प कहने वाली प्रवृत्ति ने उन्हें स्वयं अपने ही बारे में कहानियाँ गढ़ने की छूट दी। दूसरा, शरत् रूढ़िवादिता के सर्वथा खिलाफ थे। उन्होंने अंधविश्वासों, रूढ़ियों और समाज को जर्जर कर डालनेवाली प्रथाओं का कभी समर्थन नहीं किया। उनका पूरा जीवन रूढ़िवादिता के अंधकार के विरुद्ध जलती मशाल था। शरत् ने दो विवाह किए—शैव मत के अनुसार सादगी और सरलता से। पर बंगाली समाज बाजे-गाजे व खर्चे के साथ किए गए विवाह को ही विवाह मानता था। इसीलिए शरत् द्वारा अपनी शरण आई हुई युवतियों से बिना धन दहेज के विवाह कर लेना समाज को स्वीकृत न हुआ परंतु शरत् ने मानवता से गिरे हुए समाज की कभी परवाह नहीं की।

द्वितीय पर्व 'दिशा की खोज' में इन्हीं घटनाओं का विस्तार से वर्णन है। भारत में कहीं भी जीविकाश्रय न मिल पाने के कारण और समाज एवं परिवार द्वारा तिरस्कृत होकर शरत् वर्मा की ओर रवाना हो गए थे। इस दूसरे मार्ग में 'एक और स्वप्न भंग' में वर्मा में निवास कर रहे अपने सगे संबंधियों से भी संबंध टूटने का चित्रण है तो दूसरी ओर 'सभ्य समाज को जोड़नेवाले गुण' अर्थात् मधुर कंठ और सुंदर गायन का। शांति देवी से विवाह की घटना भी उनके मानवीय गुणों की भरपूर झाँकी है पर डेढ़ वर्ष का यह 'अल्पकालिक दाम्पत्य जीवन' मृत्यु की भयावह विभीषिका में चंद मास के एकमात्र पुत्र के साथ समाप्त हो गया। मोक्षदा में दूसरा विवाह भी संतान की इस कमी को फिर पूरा न कर सका। हालाँकि मोक्षदा से विवाह उनके जीवन को निरंतर व्यवस्था की ओर ले चला। इसी समय वास्तविक गृहदाह ने उनकी दो

अमूल्य कृतियों को जलाकर भस्म कर दिया। लेकिन शरत् ने साहस नहीं छोड़ा। रंगून में रहते हुए ही उनका अधिकांश साहित्य प्रकाशित हुआ। किशोरावस्था में लिखी वे रचनाएँ जो उनके मित्रों के पास थी; प्रकाशित होने लगी, यद्यपि शरत् उन कृतियों को प्रकाशित नहीं करवाना चाहते थे। देवदास, चरित्रहीन, श्रीकांत जैसी श्रेष्ठ कृतियाँ रंगून में रहते हुए ही लिखी व प्रकाशित हुईं। बर्मा स्त्रियों की स्वतंत्रता शरत् को पसंद थी। सन् १९०३ से १९१२ के प्रारंभ तक वह प्रायः अंधकार में छिपा रहा, पर इसी अवधि में उसने अपने आपको उस जीवन के लिए तैयार कर लिया जो उसे प्रसिद्धि के शिखर पर ले जानेवाला था। एक कृतिकार के लिए मानव का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है और सर्वहाराओं के बीच रहते हुए वह यही करता रहा था। अपने को उनके साथ पूर्णरूप से एकाकार करके उसने उनकी भावनाओं का अध्ययन किया था और अपने जीवन के उद्देश्य की दिशा को खोज लिया था। (पृ. १६३)

सबसे पहली रचना 'बड़ी दीदी' 'भारती' (सं. सौरीन्द्र मोहन मुकर्जी) में प्रकाशित हुई थी, जिसे पढ़कर रवींद्रनाथ टैगोर ने कहा—इसका लेखक यदि नहीं लिखेगा, तो निष्ठुरता होगी। इसी रचना ने शरत् को बंगाल में अपार लोकप्रियता दिलाई और मित्रों ने उन्हें लिखते रहने के लिए विवश किया।

शरत्चंद्र अपने स्वास्थ्य और शरीर को लेकर सदा ही जरूरत से ज्यादा लापरवाह और अस्तव्यस्त रहे। फलतः दफ्तर की नौकरी और लेखन कार्य दोनों संभव नहीं थे। जैसे भी स्वतंत्रचेता व्यक्ति के लिए नौकरी वश का काम नहीं है, इससे उसका मस्तिष्क और हृदय घायल हो जाता है; इसलिए वर्मा और कलकत्ता के साहित्य प्रेमियों और शरत् मित्रों की सलाह पर वे कलकत्ता की ओर रवाना हो गए। यही तृतीयपर्व 'दिशान्त' की कथावस्तु का प्रारंभ है—जिस समय शरत् ने कलकत्ता छोड़कर रंगून की राह ली थी, उस समय वह तिरस्कृत, उपेक्षित और असहाय था। लेकिन अब जब वह तेरह वर्ष बाद कलकत्ता लौटा तो ख्यातनामा कथाशिल्पी के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था। वह अब 'वह' नहीं रह गया था, 'वे' के पद पर प्रतिष्ठित हो चुका था (पृ. १७८) इतना ख्यातिलब्ध साहित्यकार जिसके लिए संपूर्ण कलकत्ता आँखें बिछाए बैठा था—जाति, समाज बहिष्कृत था, और संपूर्ण आयु रहा। जाति में दुबारा लौटने की उन्होंने चेष्टा भी नहीं की हालाँकि जाति के ठेकेदारों ने उन्हें अनेक उपाय भी सुझाए। यह उनके सर्जन का स्वर्ण युग था। 'बैकुण्ठ का वसीयतनामा', 'अरक्षणीय', 'श्रीकांत', 'निष्कृति' तथा 'समाज धर्मे मूल्य' 'भारतवर्ष' (सं. रायबहादुर जलधर सेन) में प्रकाशित हुईं। पत्रिकाओं में प्रकाशित सभी रचनाएँ पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुईं और बंगाल पर छा गईं। किंतु चरित्रहीन कृति अनेक विवादों का कारण बनी। उसके कारण शरत् को अनेक व्यंग्य बाणों का सामना करना पड़ा। शरत् पर कई व्यक्तिगत आक्षेप भी किए गए। यहाँ तक कि एक बार किसी शरत् चटर्जी के रूपे चुरा लेने की खबर अखबार में छपी तो उनके विरोधियों ने प्रचारित कर दिया कि रूपे चुराने वाला शरत् और उपन्यास लिखनेवाला शरत् दोनों एक ही हैं। इसी प्रकार एक बार रात्रि में वर्षा के कारण सड़कों पर जल भर गया। शरत् हेमेट्र राय के

साथ पानी में धीरे-धीरे चलते हुए घर लौट रहे थे। आगे-आगे कोई स्त्री भी जा रही थी। दोनों ने निगाह उठाकर भी उसकी ओर न देखा, किंतु अगले दिन चारों ओर शोर मच गया कि रात्रि में शरत् और हेमेट्र एक वेश्या का पीछा कर रहे थे। यह मानसिकता समाज के कुण्ठाग्रस्त होने की ओर ही संकेत करती है, फिर भी शरत् को साहित्यकार से लेकर साधारण जन तक का प्यार बेहद प्यार और श्रद्धा भरपूर श्रद्धा मिली।

भौतिक दृष्टि से भी अब शरत् को कोई असुविधा न थी। उनकी रचनाओं की बिक्री इतनी अधिक संख्या में होती थी कि उसकी आय शरत् के लिए पर्याप्त थी। 'पाणित्रास' में उन्होंने अपना मकान भी बनवा लिया। नदी के किनारे गाँव में रहना ही उन्हें पसंद था। शरत् का मानवता प्रेम इतना अधिक यश पाकर किंचित भी धूमिल नहीं हुआ। मुक्त हस्त से वे सभी की सहायता करते थे। राजनीति में नेताजी सुभाषचंद्र बोस के वे सहयोगी रहे। इसीलिए उनकी मृत्यु पर उन्होंने कहा, एक साहित्यिक की दृष्टि से वे महान थे, लेकिन एक देशभक्त की दृष्टि से वे और भी महान थे। उनकी मृत्यु से कांग्रेस की बहुत क्षति हुई है।

कविगुरु रविंद्रनाथ टैगोर ने कहा, 'जिनका अमर स्थान प्रेम के आसन पर है, मृत्यु उन्हें कोई हानि नहीं पहुँचा सकती। भौतिक दृष्टि से उन्हें देश से जुदा कर दिया गया है, लेकिन उसके हृदय में उनका स्थान सदा बना रहेगा।'

शरत् ऐसे विरल व्यक्तित्वों में से थे जिन्हें साहित्यकारों, राजनेताओं, वैज्ञानिकों, कानूनवेत्ताओं और धर्मविदों ने समान रूप से आदरणीय माना हो, उनकी प्रतिभा को मुक्तकंठ से सहज स्वीकारा हो। श्री अरविंद ने कहा, 'श्री शरत्चंद्र की रचनाओं में उनकी विशाल मेधा, मानवों तथा वस्तुओं के सूक्ष्म तथा सही पर्यवेक्षण और दुःख तथा पीड़ा के प्रति सहानुभूति से भरे हृदय की अमिट छाप है। वे इतना अधिक संवेदनशील हैं कि उन्हें इस संसार से चैन कैसे प्राप्त हो सकता है। उनकी दृष्टि भी संभवतः उतनी ही अधिक पैनी है। उनका मन बहुत निर्मल है और उनकी प्रकृति बहुत उदात्त।'

उस महान कथाशिल्पी की यह जीवनगाथा श्री विष्णु प्रभाकर ने सच्ची संवेदना और सशक्त शैली के माध्यम से अभिव्यक्त की है। यह अनुभवों का श्रृंखलाबद्ध और कलात्मक चयन है। इसकी समस्त घटनाएँ संवेदना की गहराई से अभिव्यक्त की गई हैं। इन घटनाओं में भावों को आलोडित करने की पूर्ण शक्ति है। गोताखोर की तरह शरत् के जीवन सागर में डूब-डूबकर ये मोती एकत्र किए गए हैं। श्रेष्ठ जीवनी लेखक की तरह प्रभाकर जी ने कहा, देश, व्यक्ति और घटना की सीमाओं को तोड़कर अनुभूतियों का सौंदर्य में विक्षेपण किया है। बिशुद्ध कला और मानदण्डों के बीच संतुलन और सामंजस्य का प्रणयन किया है। एक विद्वान के अनुसार जीवनी लेखन कोरा इतिहास मात्र होगा, अगर उसकी अभिव्यक्ति कलात्मक ढंग से न हो और उसमें लिखनेवाले का व्यक्तित्व प्रतिफलित न हो। वह व्यक्ति विशेष का तटस्थ पर खुलकर किया गया अध्ययन होता है। शरत्चंद्र की प्रकृति बेहद जटिल थी। साधारण बातचीत में वे अपने मन के भावों को छिपाने का प्रयत्न करते थे और कपोल कल्पित कथाएँ

गढ़ते रहते थे। इसी कारण उनके निकटस्थ भी उनके बारे में कुछ नहीं जान पाते थे। श्री विष्णु प्रभाकर ने साहसपूर्वक उनके जीवन के विरोधाभासों और निचली गहराइयों में प्रवेश करके न केवल सत्य को जानने, व्यक्त करने की सफल चेष्टा की है अपितु उन प्रेरणास्रोतों को भी समझा है जो दिखाई नहीं देते पर सत्य हैं और इस सत्य को पाने के लिए वे न केवल गहरे उतरे हैं अपितु आस्था और तटस्थता का सहारा भी उन्होंने लिया है।

जहाँ तक कृति की कलात्मकता या शिल्प का सवाल है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रभाकर जी ने कला मानदण्डों के बीच संतुलन ही स्थापित किया है और यह संभव हुआ है उनकी आस्था और जीवनी लेखक के विशिष्ट गुण तटस्थता के कारण। कृति का नामकरण ही लेखक की सामर्थ्य और शक्ति को अभिव्यंजित करता है। जिस महिमामण्डित आवारापन के प्रतीक थे शरत् उसकी व्याख्या 'आवारा मसीहा' शब्द से ही हो सकती है। शरत् की प्रतिभा दिशाहीन होकर वर्षों भटकती रही और जिस दिन उन्हें साहित्यरूपी दिशा मिली वे मसीहा बन गए।

शरत् की बचपन की शरारतों तक का चित्रण करते हुए महान शिल्पी प्रभाकर जी अपनी शैली का उदात्तीकरण करना नहीं भूले हैं—'इस अनुशासन के बीच खेलने का अवकाश पाना बड़ा कठिन था, परंतु आँखों में धूल झोंकने की कला में शरत् निष्णात था।' (पृ. ३१) घटनाओं के अनुरूप ही प्रभाकर जी के शिल्प ने भी मोड़ लिया है, इसीलिए कृति अधिक रोचक बन गई है। नाना के परिवार में मिली सामाजिक प्रताड़ना में जिस ओज की आवश्यकता थी-लेखक की शैली ने उसी का स्पर्श किया है, 'वह इस अपमान को न पहचानता हो, यह बात नहीं थी। परंतु वह यह भी जानता था कि धर्मशास्त्र में जिस आचार संहिता की चर्चा है, वह सब युगों के लिए नहीं होती। जैसे युग पलटते हैं, वैसे ही संहिताएँ भी पलटती हैं। इसलिए वह अपमान उसकी शक्ति बन गया था। इसीलिए उसके दिशाहारा मन के भीतर जो सौंदर्य और साहित्य-सृष्टि के बीज अंकुरित हो चुके थे, उनके विकास में यह जीवन सहायक हुआ। उसने दुःख को केवल भोक्ता होकर सहा ही नहीं था, द्रष्टा होकर देखा भी था।' (पृ. ९४) वर्णन की प्रस्तुति में भी प्रभाकर जी की कलात्मकता लगातार बनी रही है। जहाज पर समुद्र की यात्रा करते हुए कैसा अनुभव होता होगा-यह भी प्रभाकर जी की यथार्थ कल्पना से अतीव रोमांचक बन पड़ा है, 'वह दृष्टि, हवा, अंधकार और जहाज का झूलना और समुद्र की लहरों का आकार, ये सब देखकर वह व्याकुल हो ही रहा था कि सहसा एक ऐसा विकट शब्द कानों में आ पड़ा जैसे हजारों राक्षसियाँ एक साथ मृत्यु की यंत्रणा से चीखती हुई और धरती को अपने पैरों के बोझ से कुचलती हुई, इधर-उधर दौड़ रही हैं। वे तूफानी हवाएँ थीं। उनसे बचना असंभव जैसा था। उनके सहारे समुद्र की तरंगें विराट रूप धारण करके जहाज को ग्रसने के लिए दौड़ती थीं और इस समुद्र जल के टकराने से एक तरह की ज्वाला सी चमक उठती थी। अंधकार के कारण समुद्र की जलराशि दिखाई नहीं देती थी, लेकिन यह ज्वाला उसकी भयानकता को उजागर कर देती थी।' (पृ. ९६) संक्षेप में, 'आवारा मसीहा' शरत्चंद्र के जीवन की घटनाओं का

विवरण ऐतिहासिक रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। इस विवरण में एक सूत्रता है, स्वाभाविकता और सहजता है, कलात्मकता और सौंदर्य है, आत्मीयता और तटस्थता है। आस्था और सहानुभूति है, कोमलता और करुणा है। यथार्थ का महत्त्व है तो चरित्र की उदात्तता भी है; सबलताओं और दुर्बलताओं का यथार्थ और मनोवैज्ञानिक चित्रण है, अज्ञात घटनाओं या किंवदन्तियों का शोधपूर्ण उद्घाटन है। कुल मिलाकर यह एक संपूर्ण और समर्थ जीवनी कला का उदाहरण है।

□ □

३७१/६ प्रगति नगर  
मेरठ २५०००१

## आलेख

● डॉ. लव कुमार

## नुक्कड़ नाटक का स्वरूप और संभावना

नुक्कड़ नाटक स्वातंत्र्योत्तर नाट्य रचना परंपरा की एक नवीनतम उपलब्धि है। इसकी शुरुआत वस्तुतः आम आदमी तक, बहुत बड़े जन-समुदाय तक निर्बाध पहुँचने की कोशिश में, जन-सामान्य की अपनी भाषा तलाश करते हुए एक रंगान्दोलन के रूप में हुई। रंगकर्म की सक्रियता बढ़ने पर नाटक और रंगकर्म को बंद प्रेक्षागृह के चौखटे के भीतर से, पश्चिमी रंगशिल्प के चकाचौंध भरे प्रभावों से, कृत्रिम प्रयोगात्मक प्रवृत्ति और बौद्धिकता के जटिल दायरे से बाहर निकालने की जरूरत महसूस की गई। रंकर्मियों को अपनी परंपराओं की ओर लौटना उचित लगा तो छोटे दशक के बाद नुक्कड़ नाटक अपने अस्तित्व को संभालने लगा। नुक्कड़ नाटक में जो खुलापन और प्रस्तुति में जो उन्मुक्तता है, वह एकबारगी हमें लोकनाट्यों की, लोकमंच की सादगी और जीवंतता की झलक दिखा जाता है। संभवतः आजादी के बाद की परिस्थितियों के बदलने से, व्यवस्था तंत्र की विद्रूपता, शोषण-वृत्ति और सत्ताधीशों की मनमानी, आम आदमी के विरुद्ध बनती-बिगड़ती नीतियों के सटीक प्रदर्शन के लिए अपनी स्वतंत्रता, सार्थकता और मौलिकता लेकर नुक्कड़ नाटक साहित्य और जीवन से जुड़ने की ओर अग्रसर हुआ है। इसलिए अगर यह पारंपरिक अवधारणाओं को तोड़ रहा है और जन-संस्कृति की तलाश कर रहा है तो नाट्य-लेखन, प्रस्तुति की पद्धति, अभिनय शैली, वेश-भूषा आदि में नए अंदाज की तलाश करनी चाहिए। निश्चय ही नुक्कड़ नाटक हमारी युगीन आवश्यकता बनकर आया और नाटक तथा रंगमंच की जनवादी प्रक्रिया वाले हिस्से का एक महत्वपूर्ण आयाम बना लेकिन जितना सम सामयिक और तात्कालिक प्रश्नों का मंच बना, उतना सांस्कृतिक मंच नहीं बन पाया जबकि इसे जीवंत, प्रासंगिक और चुनौतीपूर्ण बना चाहिए। आरंभ में कहानियों के नाट्य रूपांतरों का प्रयोग नुक्कड़ों, गलियों, चौराहों और सड़कों पर प्रदर्शित करने के लिए किया गया लेकिन बाद में नुक्कड़ नाटकों का एक अपना शिल्प भी विकसित हुआ है जिसमें यथार्थवादी प्रस्तुति की प्रायः सभी व्यवस्थाएँ अस्वीकार कर दी गई हैं।

अपने उद्भव काल से ही विरोधी एवं विद्रोही तेवर के कारण नुक्कड़ का संबंध स्वभावतः राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों से जुड़ा महसूस होता है। आम आदमी के सपनों को तोड़नेवाली, उनके प्रति अन्याय और अत्याचार करनेवाली जन-विरोधी ताकतों के यथार्थ रूप, उनके जनतंत्र विरोधी करतूतों को भेदनेवाली प्रतिक्रियात्मक इच्छा से जुड़ता गया। तात्कालिक मुद्दे, सम-सामयिक प्रश्न और आम आदमी के जीवनानुभवों से जुड़ी सच्ची घटनाएँ इसके अनिवार्य अंग बनते गए। प्रेमचंद की कहानियों के अलावा अन्य ऐसी ही कहानियाँ नुक्कड़ मंच के केंद्र में आ धमकीं तो दूसरी ओर एक बड़ा नाटककार दल भी नाट्य लेखन की ओर उन्मुख हुआ जिसमें सफदर हाशमी, राधाकृष्ण सहाय, विभु कुमार, सर्वेश्वर, रमेश उपाध्याय, स्वयं प्रकाश, सुदर्शन मजीठिया, वसंत कुमार परिहार आदि उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु के नाटक शैलीबद्ध न होने के बावजूद अपने लचीलेपन, जनाक्रोश और जन-चेतना का व्यापक अनुभव देनेवाले हैं। 'अंधेर नगरी' में नायकत्व और वैयक्तिकता न होने के बावजूद जन समूह का शोर है, सामान्य जनवर्ग की उपस्थिति है और उनकी चिंता की आहट सुनी जा सकती है। कहीं गहरे राजनीति और मानव-विरोधी शक्तियों से मुक्ति का सांकेतिक मंचानुभव यह नाटक देता ही है। नाटक की प्रकृति, उसके परंपरागत स्वरूप और संरचना में बहुत बड़ा परिवर्तन लेकर बादल सरकार का 'जुलूस' सामने आता है। भाषा और शिल्प में उनके तीसरे मंच (आंगन मंच) की अवधारणा ने नुक्कड़ मंच को नई दिशा प्रदान की है और देश भर में उसके सैकड़ों प्रदर्शनों ने रंगांदोलन के नए प्रतिमान स्थापित किए हैं। नुक्कड़ नाट्य साहित्य पर उपलब्ध जानकारी के अनुसार ब्रजराज किशोर, चंद्रेश, नेपथ्य एवं जन-नाट्य मंच के संपादन में चार संग्रह 'नुक्कड़ नाटक' के नाम से आए हैं जिनमें कुल सत्रह रचनाएँ संकलित हैं। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित एवं पूर्णाकार नाटक के रूप में प्रकाशित नाटक इसके अतिरिक्त हैं। सफदर द्वारा लिखे गए नुक्कड़ नाटक जन नाट्य मंच द्वारा काफी प्रचारित किए गए और उनकी मृत्यु के बाद 'सफदर' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित कराई गई है जिसमें सफदर के लिखे (हल्ला बोल, मशीन, गाँव से शहर तक, राजा का बाजा और अपहरण भाईचारे का) एकांकी जैसी रचनाएँ संकलित हैं। चंद्रेश द्वारा संपादित संग्रह 'नुक्कड़ नाटक' में चार रचनाएँ (सवा सेर गेहूँ, गिरगिट, औरत, जनता पागल हो गई है) संकलित की गई हैं। ब्रजराज किशोर के संग्रह 'पाँच नुक्कड़ नाटक' में पाँच एकांकी किस्म की रचनाएँ (रामबाण, विधिवत प्रजा, मूँगफली का छिलका, लोकवृक्ष के आठ ढिंढोरचिए, सबसे सस्ता गोशत) चुनकर ली गई हैं। पटना से अनागत नाट्य संस्था द्वारा प्रकाशित स्मारिका 'नेपथ्य-२' में तीन नुक्कड़ नाटक के आलेख लिए गए हैं—मंथन, सवा सेर गेहूँ और जिंदाबाद मुर्दाबाद। इन नाटकों ने नुक्कड़ मंच पर अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध आम आदमी की लड़ाई को प्रखरता एवं तीव्रता से प्रदर्शित किया और व्यवस्था द्वारा लगाए गए बंधनों को भी एक झटके से तोड़ने का उपक्रम किया। वास्तव में नुक्कड़ नाटक स्वतंत्र अभिव्यक्ति, रंगमंच की प्रत्यक्ष शक्ति और निर्भय स्वर की विधा है।

रूप और वस्तु, इन दोनों धरातलों पर आज के नुक्कड़ नाटकों ने नाट्य रचना और उनकी रंग-प्रस्तुतियों से संबद्ध हमारी पारंपरिक अवधारणाओं और नाट्य प्रस्तुति की सीमाओं को तोड़ा है। परंपरा के प्रति विद्रोह की यह घटना साहित्य, कला और संस्कृति के इतिहास में कोई नई बात नहीं किंतु परंपरा की जगह जो नई स्थापनाएँ लाई जा रही हैं अथवा लाई गई हैं, उनके मूल्य और उपयोगिता ही यह तय करेंगे कि उनका भविष्य क्या है। इसमें कोई दो मत नहीं कि नुक्कड़ नाटकों ने जहाँ कुछ जर्जर मान्यताओं को बड़े शानदार अंदाज़ में धराशायी किया है, वहीं नाटक के रचना-विधान और रंगमंचीय कला-मूल्यों से जुड़े कतिपय जुड़े सवाल भी उठ खड़े हुए हैं। नुक्कड़ नाटक का संबंध आदिम जाति और समाज से है, आदमी के नाटक करने की कला से है और इसका स्वरूप भी बेहद स्वतंत्र, घरेलू और नए तेवर का है। मंचीय ताम-झाम के अनुशासन से बँधा नाटक जैसे ही किसी खुली सड़क या नुक्कड़ पर अभिमंचित होता है कि उसका सारा अंदाज़ और तीव्रता, उसका मुहावरा और व्याकरण बल्कि समूचा सौंदर्य बोध और प्रस्तुति प्रक्रिया ही बदल जाती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि यह नाटक भीड़ जुटाता नहीं है अपितु भीड़ में से निकल कर स्वतः बनता और खेला चला जाता है। इसलिए कथ्य का नयापन और शिल्प का खुलापन हमारी प्राचीन भारतीय लोक परंपराओं से जाकर जुड़ता है। नुक्कड़ नाटक के विभिन्न प्रदर्शनों में बीच कबिरा खड़ा बाजार में, बकरी, मौजूदा हालत को देखते हुए, प्रजा ही इतिहास रचती है जैसे नाटक नए रूप में जनता के बीच सामने आए हैं जो नुक्कड़ विधा की तीव्रता और बुनावट लिए हुए हैं।

नाटक सामूहिक कला माध्यम है। रंगशाला की दीवारों ने नाटक को एक ऐसे फ्रेम में जकड़ दिया है कि हिंदी नाटकों पर कुछ निर्देशक हावी हो गए और प्रदर्शन आभिजात्य वर्ग के बौद्धिक विलास का साधन बनकर रह गया। नुक्कड़ नाटकों ने नाटक को रंगमंच के प्रचलित पारंपरिक फ्रेम से मुक्त कर, निर्देशक के वर्चस्व से बचाकर और आभिजात्यवादी संस्कार के सीमित दायरे से मुक्ति दिलाकर रास्ते पर आम आदमी के बीच लाकर खड़ा कर दिया है। इसका दर्शक वर्ग सड़क पर चलता हुआ आदमी, दफ्तरों-कारखानों से निकले कर्मचारी और मजदूरों की टोली ही है जिन्हें बहुत कम समय में ही जानी-पहचानी घटनाओं, असंगत स्थितियों के विविध पहलुओं को उजागर करके नुक्कड़ मंच उकसाना भी चाहता है और कर्म के प्रति उद्यत भी करता है। इसलिए नुक्कड़ नाटक की मौलिकता वस्तुतः उसकी भाषा की बुनावट, संवादों के लहजे, उसके छोटे-छोटे दृश्यों, गीत-संगीत, समूहन, साझेदारी, चुटौले और प्रभावशाली संवादों तथा अभिनय के अलग अंदाज़ में अंतर्निहित है। राजनीतिक विचारधारा से जुड़कर नाटक और रंगमंच भी जन-संघर्ष की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बना जिसमें युवा आक्रोश की अभिव्यक्ति भी खुलकर हुई है। बड़े बजट के फ़िल्मों की तरह प्रस्तुत किए जानेवाले राष्ट्रीय स्तर की संस्थाओं और इने-गिने निर्देशकों की पकड़ से छूटकर नाटक जब रंगशाला की बँधी-घिरी चारदीवारी से बाहर निकल कर गली-कूचा, लॉन, पार्क, टैरेश, चौराहा और नुक्कड़ों तक आ पहुँचा है तो निश्चय ही कुछ बुद्धिजीवियों को लगा होगा कि

हिंदी नाटक और रंगमंच पर से पूँजीवादी शिकंजा कमज़ोर पड़ता जा रहा है और जनवादी चेतना का फैलाव तीव्रता से हो रहा है। नाटक और उसकी प्रस्तुति अब उन साधारण आदमियों तक सीधे पहुँच गई है जिनके दुख-दर्द और जीवन-संघर्ष की गाथा वस्तु में कही जाती रही है। इसकी सबसे बड़ी चुनौती मौजूदा घटनाओं को सीधे दर्शकों तक संप्रेषित करने की ज़रूरत और ताकत को महसूस कराना है। यही कारण है कि नुक्कड़ नाटकों में लोकनाटकों की तरह लचीलापन, मनोरंजन, चुटकियाँ, प्रखरता और उन्मुक्तता एक साथ मिलती है। हालाँकि इसमें स्थायित्व लाने और एकरसता तथा बासीपन से बचने के लिए परिवर्तनशीलता ज़रूरी है।

इस परिवर्तनकारी घटना से यह साबित हो गया है कि रंगमंच और नाटक अलग-अलग वस्तु नहीं है और हर नाटक अपना रंगमंच साथ लेकर सृजित होता है। पिछले दशक के तथाकथित रंग-दार्शनिक और रंग-चिंतकों को इससे बड़ा धक्का लगा है और उन रंग-समीक्षकों को भी सोचने के लिए बाध्य होना पड़ा है जो रंगमंच को एक स्वतंत्र कला माध्यम मानते रहे। प्रचलित अवधारणाओं और परंपरागत शैली शिल्पगत बंधन-निषेधों को एक झटके से तोड़ डालने की यह क्रांतिकारी शुरुआत कुछ समय पहले ऐम्बर्ड नाटकों ने की थी पर उसका प्रभाव व्यापक रूप से इसलिए नहीं पड़ा कि उसके पीछे पश्चिमी जीवन-दर्शन काम कर रहा था जो भारतीय जन-मानस की जीवन दृष्टि और संस्कृति के बहुत अनुकूल नहीं था। नुक्कड़ नाटक इस अर्थ में इसलिए अधिक सफल रहा कि उसने अपनी जीवन शक्ति लोकनाटकों से लिया, नाट्य-वस्तु को बिना किसी कलात्मक सुधार के ही सीधा आम आदमी के जीवन से लिया। लोकजीवन से आनेवाले इन दोनों ही महत्वपूर्ण तत्वों ने नुक्कड़ नाटक को सही अर्थ में जन-साधारण से गहराई से जोड़ने में सफलता पाई।

दूसरी ओर नुक्कड़ नाटकों की अपनी कुछ सीमाएँ भी हैं जिनको लेकर नुक्कड़ नाटकों के भविष्य एवं स्थायित्व पर सोच-विचार की आवश्यकता है। लगभग सभी नुक्कड़ नाटक जीवन में हर मोर्चे पर चोट खानेवाले घायल जन-मन की करुणा और यथार्थ के माध्यम से घनघोर सामाजिक संघर्ष की पीठिका तैयार करने में संलग्न रहे। इन नाटकों का लक्ष्य रस-दृष्टि का मनोरंजन अथवा दर्शक की सस्ती लोकरुचि का पोषण करना नहीं है। नुक्कड़ नाटक सामाजिक संघर्ष का जन-मोर्चा है, इसलिए कई बार इसके प्रदर्शनों पर प्रतिबंध लगे तो कहीं पुलिस से संघर्ष हुई और कभी कलाकार की निर्मम हत्या भी हुई। राजनीतिक-सामाजिक और धार्मिक स्तर पर आज की स्थितियाँ बिल्कुल बदली हुई हैं जो छठे-सातवें दशक तक उतने गंभीर नहीं थे। उस समय नुक्कड़ नाटक जिस ऊँचाई पर था, उसी आंदोलन के बीच से सवाल भी उठे थे किंतु अतिवाद और प्रचारवृत्ति के मोहाकर्षण ने नुक्कड़ मंच की सीमा-रेखा खींच दी। दर्शकों की रुचि और समझाएँ, जीवन के संदर्भ और जटिलताएँ भी बदल गई हैं और इसलिए नए नाटककारों का दृष्टिकोण और नाट्यानुभूति को संप्रेषित करने की तकनीक भी परिवर्तित हो गई है। नाटककार अब दर्शक से सीधा तादात्म्य स्थापित करना चाहता है, उनके

जीवन का साक्षात्कार उन्हीं से कराता है और इसके लिए पारंपरिक नियम-निषेधों को अपनी सुविधानुसार तोड़ता भी है। दर्शक अब मनोहर भुलावे और दिवा-स्वप्नों में खोना नहीं चाहते क्योंकि पाँच दशकों के चुनावी वायदों ने उनका विश्वास तोड़ा है, देश के कर्णधारों ने उनके साथ छल और विश्वासघात किया है, जीवन की आवश्यकताओं और विवशताओं ने उसे समझौता करने को बाध्य किया है। इस तरह नाटक और रंगकर्म की पारस्परिक भागीदारी, जन-समूह से गहरे आंतरिक जुड़ाव के साथ रचनात्मक कर्म भी होते रहने से अनायास प्रश्नों, बहसों और विवादों का लंबा सिलसिला चलता रहा जिनके बीच नुक्कड़ नाटक ने बृहत पैमाने पर अपना ऐतिहासिक अस्तित्व स्थापित कर लिया। एक बड़ा रचनाकार समूह भी लेखन, मंचन, बहस और विवादों में बेचैनी से ज़रूरत की कुछ चीजें तलाश करता रहा जिसका आभास विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों से होता है जिससे विचारोत्तेजना, विचार-विमर्श और जन-चेतना का माहौल बन सका।

नाट्य विधा और रंगमंच की परिभाषा को एक सिरे से बदल देनेवाला नुक्कड़ मंच मूलतः तत्कालीन अथवा सम-सामयिक समस्याओं पर संवाद शुरू करने का, जन-विरोधी ताकतों के विरुद्ध संगठित होकर खड़े होने का, सामाजिक प्रक्रिया और ऐतिहासिक बदलाव का एक सशक्त माध्यम बन गया है किंतु हिंसा-प्रतिहिंसा, धर्म के साथ ही राजनीतिक पार्टी-प्रचार, तात्कालिकता का दबाव और आलेख एवं प्रस्तुति के सरलीकरण के कारण इसका कलात्मक सौंदर्य क्षीण पड़ता गया। बाहर के खतरों के साथ-साथ भीतर के भीतरघात से जूझते हुए, सम-सामयिकता एवं राजनीतिक संदर्भों, व्यक्ति की समझदारी और रचनाकार के दायित्व की बात को उठानेवाले नुक्कड़ नाटकों के इस बदले हुए रूप और तेवर को देखकर यह आशंक व्यक्त क जाने लगी है कि नाटक क्या साहित्य का अंग बना रह पाएगा? इसका सीधा-सा जबाब यह है कि नुक्कड़ ही संपूर्ण हिंदी नाटक नहीं बल्कि हिंदी नाटक की एक नवीन प्रवृत्ति है जो आलेख के स्तर पर साहित्यिक कम है किंतु क्रांतिकारी समाजवादी नारा कुछ अधिक है। रंगकर्म का प्रचार-प्रसार, नाट्य-लेखन का विस्तार और नाटककारों और रंगकर्मियों का उत्साह तथ हस्तक्षेप आज बहुत सारे सवाल का जवाब खुद ही दे रहा है। नुक्कड़ मंच और उसकी अनेक नाट्य संस्थाएँ बहुत जल्दी और बहुत तेजी से उभरी तो नुक्कड़ के कलाकारों ने स्थिर रंगकर्म में एक हलचल-सी मचा दी। रंगकर्मियों ने संघर्षशीलता का परिचय देते हुए चौराहों और सड़कों पर भूख, गरीबी, दहेज, मजदूरों के शोषण, भ्रष्टाचार, अशिक्षा, सांप्रदायिकता, बेरोजगारी, नारी शोषण आदि अनेकानेक ज्वलंत समस्याओं पर नुक्कड़ प्रदर्शनों से जनचेतना जगाने और आम आदमी को उसकी बदहाली से परिचित कराने का प्रयास किया। ऐसे सारे विषय और प्रयास क्या साहित्य से जुड़े हुए नहीं हैं? हिंदी नाटक का यदि एक हिस्सा इस संरचना और स्वरूप से जुड़ा है तो इससे समस्त हिंदी नाटक के साहित्यिक अस्तित्व पर कोई संकट नहीं आता क्योंकि आखिरकार नई कविता और अकविता को, अकहानी और हाइकू तक को हिंदी साहित्य ने बिना डकार किए पचा लिया है।

नाट्य-रचना के प्रचलित शैली-शिल्प को नुक्कड़ नाटक की संरचना और स्वरूप ने छिन्न-भिन्न कर दिया है। सच तो यह है कि नुक्कड़ नाटकों का प्रदर्शन नितांत अव्यावसायिक प्रयास है, असंगठित किंतु व्यवस्थित है और कलात्मक क्रांति की जगह सामाजिक क्रांति को अपना मूल उद्देश्य बनाए हुए है। ऐसी स्थिति में इसे एक आंदोलन माना जा सकता है और इसके ठहराव के बारे में निश्चित भाव से कुछ नहीं कहा जा सकता। असंगत नाटक, कहानियों का रंगमंच, मनो-शारीरिक रंगमंच जैसे कितने ही नए प्रयोग हिंदी नाटकों में हुए और एक समय के बाद उन सबों में स्थिरता आई, उतार आया। क्या आश्चर्य कि इक्कीसवीं सदी के तीन-चार दशकों तक नुक्कड़ नाटक के उत्साहपूर्वक जुड़े रहनेवाले रंगकर्मियों के शिथिल होते ही इसका भी नयापन खो जाए। रंगमंचीय गतिविधियों में जब कोई नया ज्वार आया है तो बदलाव के लिए उत्कंठित लोगों ने उसका हार्दिक स्वागत किया है। नुक्कड़ नाटकों का भी स्वागत हुआ, हो रहा है और खेल जारी, खेल जारी, तालों में बंद प्रजातंत्र, बकरी, लड़ाई, आदमी का गोश्त, चौराहा, भूखी स्थितियाँ जैसे नाटक जब तक लिखे जाते रहेंगे अथवा जनता पागल हो गई है, हत्यारे, सवा सेर गेहूँ, औरत, मशीन, बदलते चेहरे जैसे प्रदर्शन जब तक गली-चौराहों पर होते रहेंगे तब तक ऐसा नहीं लगता कि कला माध्यम के रूप में इन नुक्कड़ प्रदर्शनों पर कोई आँच आनेवाली है। अपने कथ्य और फॉर्म में इन नाटकों ने नुक्कड़ रंगानंदोलन को २०-२५ वर्षों तक खींचा है।

अपनी सारी विशिष्टता और मौलिकता के बावजूद नुक्कड़ नाटक में एक तरह का ठहराव आता गया क्योंकि लेखक और प्रस्तुति में बहुत कुछ रूढ़ और एकरस होता गया। पुनरावृत्ति ने नुक्कड़ मंच की ताजगी को कुंद कर दिया। प्रायः हर जगह, हर प्रस्तुति में एक ही अंदाज़, एक ही विषय, एक जैसे पात्र, एक-सा विरोध और उनसे निकलती सतही सम-सामयिक दृष्टि ने उसमें स्थिरता पैदा कर दी। नाटक में आनेवाले दैनिक जीवन के संघर्षशील पात्र ही नायक के रूप में सामने आए लेकिन यह परिवर्तन भी रूढ़ियों को तोड़ते हुए अंततः रूढ़ हो गया। विचारधारा से जुड़ना इसकी सम-सामयिक प्रतिबद्धता रही तो सर्जनात्मक संभावनाओं की तलाश भी उतनी ही जरूरी थी। तनावोन्मुखता और संघर्ष की प्रखरता, जनता से प्रत्यक्ष संवाद ही नुक्कड़ मंच की शक्ति है लेकिन कुछ समय बाद वह तीव्र द्वंद्व, मुखर आक्रोश, विद्रोह चेतना, जीवन का संघर्ष एक दोहराव तथा ठहराव मात्र बनकर रह गया। इन्हीं विपरीत एवं विरोधी स्थितियों के कारण नुक्कड़ मंच के सौंदर्य और स्थायित्व को लेकर बहस की शुरुआत हुई। दरअसल नुक्कड़ नाटक जब तक आक्रोश, भावुकता, उत्तेजना, भाषणबाजी तथा अतिरिक्त अभिनय से बचकर, अतिरेक और अस्वाभाविकता से बचकर अपनी बात नहीं कहेगा तब तक चुप्पी, तीव्र गतियों, समूहन, अभिनटन और संतुलन के बावजूद कोई स्थायी प्रभाव सृजित नहीं कर पाएगा। आज की पूँजीवादी व्यवस्था, धर्मोपाद, उपभोक्तावादी संस्कृति और बाजारवाद ने तो नुक्कड़ मंच को आहत किया ही है, यदि सच्चाई की आग को प्रस्तुत करने के अपने मूल उद्देश्य से यह भटका तो निश्चय ही अपनी स्वतंत्रता और व्याप्ति

भी खो देगा।

नुक्कड़ नाटक अपने आप में कोई नाटक नहीं अपितु एक प्रस्तुति शैली है जो पारंपरिक रंगमंचीय प्रदर्शनों की बहुत सारी ज़रूरतों को बिल्कुल गैर-ज़रूरी साबित करती हुई मंच की सामान्य व्यवस्था की हिमायती है। साहित्यिक नाटकों के मुकाबले नुक्कड़ नाटक का नाट्य-शिल्प और रंगमंच से उसका रिश्ता ज्यादा साफ़ दिखाई देता है। इसकी मंचीय ज़रूरतें इतनी सीमित हैं कि इसके लिए रंगकर्मियों को सोचना नहीं पड़ता। इनके पास वस्तु की एक संरचना और विषय का एक अंश होता है जिसे 'सहज-सरल रीति से प्रस्तुत करना ही उनका उद्देश्य होता है। इसलिए यहाँ नाटक और रंगमंच की अलग-अलग सत्ता का विवाद नहीं और न नाटककार और निर्देशक के बीच का तनाव ही होता है। सारा कुछ इतने सहज भाव से घटित होता जाता है कि नाटक वहीं से बनता बुनता महसूस होता है। व्यावसायिकता की माँग के फलस्वरूप चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली दृश्य-सज्जा, वेशभूषा और ध्वनि-प्रकाश व्यवस्था की कोई उपयोगिता तथा अनिवार्यता ही नहीं होती। आज भले ही एक खास किस्म के नाटकों को नुक्कड़ नाटक नाम दे दिया गया हो पर नाट्य रचना के शिल्प और रंगशैली के जिस मिथ को तोड़ने का श्रेय इनको दिया जाता है, वैसे अनेकानेक हिंदी नाटक पहले से मौजूद हैं जिन्हें आज नुक्कड़ नाटकों में परिगणित नहीं किया जाता। जिस फ्रेम को तोड़कर नुक्कड़ नायक सामने आए हैं, अपने को जनवादी बनाए रखने के प्रयास में और समाज का समाजवादी ढाँचा तैयार करने की कोशिश में अगर उन्होंने स्वयं को सजग एवं सतर्क नहीं बनाए रखा तो पूरी संभावना है कि वे दूसरे फ्रेम में जकड़ कर रह जाएँगे। ऐसी स्थितियों में उन आलेखों का साहित्यिक मूल्य और प्रदर्शनों का कला-मूल्य समप्त हो जाएगा। इसलिए नुक्कड़ मंच को समकालीन रंगमंच की मुख्य धारा से जोड़ते हुए उसे मौलिक, नए तथा सार्थक रूपाकार में तराशने और समर्थन की अपेक्षा है। नुक्कड़ मंच तो वैसे भी अभिव्यक्ति और जीवन के जोखिम को उठाने की एक रोचक कला है जिसमें मानवीय संवेदना, सौंदर्य और अनुभव का सम्मिश्रण है।

गढ़बनैली, पूर्णियाँ,  
बिहार-८५४३२५

- डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट

### कवि प्रदीप की कविताओं में शोषित वर्ग

कवि प्रदीप का जन्म ६ फरवरी १९१५ को मध्य प्रदेश के बड़नगर में हुआ था। इनका मूल नाम रामचंद्र द्विवेदी था। बेटी मितुल कहती हैं कि अच्छे कवि होने के साथ-साथ प्रदीप जी बेहतररीन इंसान और पिता थे। यादों के झरोखों में झाँकते हुए वे बताती हैं, 'जीवन में पिताजी की बेहद छोटी-छोटी और सुंदर माँगें होती थी—दाल चावल स्वादिष्ट बना हो, सुबह चाय के साथ अखबार समय पर आ जाए। और हाँ उनका दिन सुबह छह बजे बीबीसी हिंदी सेवा के समाचारों से होता था। बीबीसी सुनते ही हम समझ जाते थे कि दिन हो गया है।'

कवि प्रदीप ने प्रेम के हर रूप और हर रस को शब्दों में उतारा लेकिन मूल रूप से वे वीर रस और देश भक्ति के कवि थे। इन्होंने हिंदी फिल्मों के लिए बहुत से यादगार गीत लिखे। फिल्म जगत में इनकी पहचान १९४० में रिलीज फिल्म 'बंधन' से हुई। प्रदीप जी की बेटी मितुल बताती हैं, 'पिताजी इलाहाबाद में पढ़ते थे, आनंद भवन के पीछे रहते थे। इसने उन्हें काफी प्रभावित किया, नेहरू जी को वो देखते थे। ये सब उनके जहन में इतना अंदर तक बैठ गया था कि जब लिखना शुरू किया तो वीर रस की कविताएँ खूब लिखते थे। अब भी जब मुंबई में हमले हुए तो लोगों के घरों से जोर-जोर से प्रदीप जी के ही गीत बज रहे थे।'

इसके बाद उन्होंने अनेक देशभक्ति प्रधान गीत लिखे जिनमें 'आओ बच्चों तुम्हें दिखाएँ झाँकी हिंदुस्तान की', 'ऐ मेरे बतन के लोगों जरा आँख में भर लो पानी', 'हम लाये हैं तूफान से किशती निकाल के', 'दे दी हमें आजादी बिना खडग बिना ढाल' और 'आज हिमालय की चोटी से फिर हमने ललकारा है दूर हटो... दूर हटो ऐ दुनियावालों हिंदोस्तान हमारा है' आदि हैं। फिल्म की दुनिया में इनकी किस्मत के द्वार 'किस्मत' नामक फिल्म के गीत 'आज हिमालय की चोटी से फिर हमने ललकारा है, दूर हटो... दूर हटो ऐ दुनियावालों हिंदोस्तान हमारा है' से खुली। इस गाने ने आजादी के मतवालों में नई जान ही नहीं फूँकी बल्कि इन जाबाँजों को गीत रूपी हथियार दे दिया। किंतु इस गीत से क्रोधित होकर तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने उनकी गिरफ्तारी के आदेश दिए। इस गिरफ्तारी से बचने के लिए कवि प्रदीप को भूमिगत होना पड़ा।

इन्होंने पाँच दशकों में ७१ फिल्मों के लिए १७०० गीत लिखे। निदा फाजली उन्हें बतौर कवि से अधिक एक गीतकार के रूप में ज्यादा मकबूल मानते हैं। वे कहते हैं, प्रदीप जी ने बहुत ही अच्छे राष्ट्रीय गीत लिखे हैं। यूँ समझिए कि उन्होंने सिनेमा को जरिया बनाकर आम लोगों के लिए लिखा। बहुत सुंदर गीत थे वो। जिनमें काफी गीत यादगार बन गए। इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रदीप जी के गीत बड़े ही अर्थपूर्ण होते थे फिर चाहे वो फिल्मी हों या गैर-फिल्मी। इनके सभी गीत जीवन को कोई न कोई दर्शन समझाने में सक्षम हैं। इन्हें सन् १९९७-९८ में 'दादा साहब फाल्के पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। इनकी मृत्यु ११ दिसंबर १९९८ में हुई।

कवि प्रदीप ने अनेक भक्ति परख गीत भी लिखे जिनमें 'अब तेरे सिवा कौन मेरा', 'रामभरोसे मेरी गाड़ी', 'कान्हा बजाए बाँसुरी', 'कितना बदल गया इंसान', 'तेरे द्वार खड़ा भगवान', 'साँवरिया रे अपनी मीरा को भूल न जाना', 'जय जय नारायण-नारायण हरी-हरी', 'मारने वाला है भगवान बचानेवाला है भगवान', 'मैं तो आरती उतरूँ रे', 'यहाँ-वहाँ जहाँ-तहाँ', 'मत रो मत रो आज', 'करती हूँ तुम्हारा व्रत मैं', 'मदद करो संतोषी माता' और 'हे मारुती सारी रामकथा साकार' आदि आते हैं।

इसके अलावा कवि प्रदीप का एक पक्ष और देखने को मिलता है जिसमें कवि उस वर्ग तक पहुँचता है जहाँ व्यक्ति शोषित अवस्था में जीवन यापन करने के लिए विवश है। वरिष्ठ पत्रकार जयप्रकाश चौकसे कवि प्रदीप के सादे व्यक्तित्व के कायल हैं। उन्हें याद करते हुए वे कहते हैं, उन्होंने बहुत ज्यादा साहित्य का अध्ययन नहीं किया था, वो जन्मजात कवि थे। उन्हें मैं देशी ठाठ का स्थानीय कवि कहूँगा। यही उनका असली परिचय है। सादगी भरा जीवन जीते थे। किसी राजनीतिक विचारधारा को नहीं मानते थे। जैसे साहिर लुधियानवी और शैलेंद्र के गीत लें तो वे कम्युनिस्ट विचारधारा के थे। लेकिन प्रदीप जी ने किसी राजनीतिक विचारधारा को स्वीकार नहीं किया। बौद्धिकता का जामा उनकी लेखनी पर नहीं था, जो सोचते थे वही लिखते थे, सरल थे, यही उनकी खासियत थी। कवि ऐसे लोगों की उस निराशा, कुंठा और त्रासदी को देखकर तड़प उठता है। वह 'पिंजरे के पंछी रे' के माध्यम से शोषित के दुख को प्रकट करता है साथ ही उसे सलाह देते हुए कहता है कि तुम्हें जीवन के त्रासदी पूर्ण क्षणों से निकलकर जीवन को सुखमय बनाने के लिए निरंतर प्रयासरत रहना चाहिए। क्योंकि जीवन यदि दुखों से भरा है तो निश्चित ही ये पल समय आने पर टल भी जाएँगे। जिसे इस प्रकार देखा जा सकता है-

चुपके-चुपके, रोने वाले

रखना छुपाके, दिल के छाले रे

ये पत्थर का देश है पगले, यहाँ कोई न तेरा होय

तेरा दर्द ना जाने कोई।

समाज में विषम परिस्थितियों का मूल कारण इसमें व्याप्त वर्गभेद है। अतः समय-समय

पर समानता की बात कही गई है। समाज के इस वर्ग भेद को लेकर भी गीतकार कवि प्रदीप चिंतित दिखाई देते हैं। वे समानता की बात तो नहीं करते किंतु उन लोगों के जीने के हक की बात जरूर करते हैं ताकि उन्हें भी इस संसार के प्रति थोड़ा मोह उत्पन्न हो सके। अतः वे ऐसे ही लोगों की पुकार बनकर उच्च वर्ग से गुहार लगाते दिखाई देते हैं...

कफन से ढँक कर बैठे हैं  
हम, सपनों की लाशों को  
जो किस्मत ने दिखाए  
देखते हैं उन तमाशों को  
हमें नफरत से मत देखो  
जरा हम पर रहम खा लो  
अरे ओ रौशन वालों।

इन्हीं विषम परिस्थितियों के संबंध में मेरे विचार इस प्रकार हैं...

जाति-पाति का भेद नहीं यह, मर-मिटने को क्यों तत्पर है।  
अर्थ भेद है जग जाहीर यह, कभी नहीं है मिट सकता।।

कवि प्रदीप जीवन के रहस्यों पर भी विचार करते हैं। उनका मानना है कि व्यक्ति के जीवन में सुख-दुख की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। इन दोनों के बीच निरंतर संतुलन बनाए रखने में रत व्यक्ति ही जीवन का सच्चा आनंद लेने में सक्षम हो सकता है। अतः व्यक्ति को निरंतर कर्मोन्मुख रहना चाहिए। और इस जीवन नैया को ध्यान से खेने के लिए कहते हैं ताकि इस अमूल्य जीवन के प्रत्येक क्षण का आनंद उठाया जा सके। जिसे इस प्रकार देखा जा सकता है —

भले भी दिन आते जगत में, बुरे भी दिन आते  
कड़वे मीठे फल करम के यहाँ सभी पाते  
कभी सीधे कभी उल्टे पड़ते अजब समय के पाँव  
कभी धूप कभी छाँव, कभी छूप तो कभी छाँव।

समाज में मजदूर की बहुत बड़ी भूमिका होती है। उसके अभाव में उच्च वर्ग के सुखमय जीवन की कल्पना भी संभव नहीं। जीवन के हर क्षेत्र...चाहे वह खेत हो, खलिहान हो या खदान हो... में उसका महत्वपूर्ण योगदान देखा जा सकता है। कवि प्रदीप भी समाज के इस कर्मठ वर्ग अर्थात् मजदूर के कर्म को अनदेखा न कर सके। अतः उन्होंने 'हम तो अलबेले मजदूर' के माध्यम से मजदूर की सरलता, सादगी, शक्ति और सामर्थ्य को प्रस्तुत किया है। साथ ही कर्म के प्रति आस्था को अभिव्यक्ति दी है—

हम तो अलबेले मजदूर, ग़ज़ब हमारी जादूगरी  
हम पत्थर में प्राण जगा दें

हम मिट्टी में जीवन ला दें।

कवि का मन समाज की असमानता को लेकर बड़ा बेचैन है। इसीलिए वह 'कभी-कभी खुद से बात करो' में तथाकथित उच्च वर्ग पर व्यंग्य करते हुए उसे जमीनी हकीकत से रूबरू कराते हैं। साथ ही अपनी पुरानी परंपरा की याद दिलाकर समस्त समाज को साथ लेकर चलने का मंत्र देते हैं जिसे इस प्रकार देखा जा सकता है-

ओ नभ में उड़ने वालों, जरा धरती पर आओ।  
अपनी पुरानी सरल-सादगी फिर से अपनाओ।।

इस संसार के सभी तत्व एक सोची समझी योजना के तहत निर्मित हुए जान पड़ते हैं। क्योंकि ये सभी तत्व एक दूसरे के सहयोग से पूर्णता को प्राप्त करते हैं। जब रचनाकारों की दृष्टि इस सहयोग की भावना पर केंद्रित होती है तो उसका ध्यान इसके निर्माता की ओर सहज ही चला जाता है। कवि प्रदीप के साथ भी ऐसा ही हुआ है। वह संसार के निर्माता को मालिक कहकर संबोधित करता है। वह अपनी कविता 'ऊपर गगन विशाल' के माध्यम से उस मालिक को धन्यवाद देता है जिसने इस संसार की रचना की है। जिसमें सूरज, चंद्रमा, जल, पवन, आग का गोला, बादल रूपी उड़न खटोला साथ ही इन सबके बीच एक अद्भुत प्राणी 'मनुष्य' का उल्लेख किया है। जो प्रकृति के सभी तत्वों का भोग करने में सक्षम है। वह सर्वसम्पन्न गुणों वाला है तथा अपनी रुचि के अनुकूल जीवन निर्माण कर सकता है। जिसके संबंध में इस प्रकार से देखा जा सकता है...

इस जग में इंसान के दिल को  
कौन सका पहचान  
इसमें ही शैतान बसा है  
इसमें ही भगवान  
बड़ा ग़ज़ब का है ये खिलौना  
इसकी नहीं मिसाल।

आज के भौतिकतावादी दौर में मनुष्य विलासी बनता चला जा रहा है। जिसके कारण वह अधिक से अधिक वस्तुओं के भोग की प्रतिस्पर्धा में शामिल है। ऐसी दशा में वह भावहन हो गया है। वह ऐन केन प्रकारेण धन की होड़ में जुटा हुआ दिखाई देता है। व्यक्ति की इस तरह की होड़ समाज के लिए घातक है। ऐसी परिस्थितियों में मनुष्य को पहचानना आसान नहीं रह जाता। उसके लिए रिश्ते-नातों का कोई महत्व नहीं होता। कवि प्रदीप अपनी कविता 'खिलौना माटी का' में मनुष्य की इसी मानसिकता को लेकर चिंतित दिखाई देते हैं। वे कहते हैं—

कभी तो एकदम रिश्ता जोड़े  
कभी अचानक ममता तोड़े  
होके पराया मुखाड़ा मोड़े



अपनों को मझधार में छोड़े  
सूरज की खोज में इत उत दौड़े  
कितना ये नादान  
खिलौना माटी का

अंततः कहा जा सकता है कि गीतकार प्रदीप केवल गीतकार ही नहीं थे बल्कि वे एक चिंतक की भूमिका के रूप में भी हमें दिखाई देते हैं। उन्होंने न सिर्फ दुखियों, पीड़ितों, गरीबों व शोषितों की सहायता की बात की बल्कि वे स्वयं ऐसे लोगों की मदद के लिए सदैव तत्पर भी रहे। प्रदीप जी के गानों के कॉपीराइट और रॉयल्टी को लेकर उनकी बेटी मितुल को अदालत में मुकदमा लड़ना पड़ा है। वे बताती हैं, 'ए मेरे वतन के लोगो'... पिताजी ने लिखकर दिया था कि इस गाने से आनेवाली रॉयल्टी शहीद सैनिकों की विधवाओं को मिलनी चाहिए। लेकिन रॉयल्टी विधवाओं तक नहीं जा रही थी। इसे सुनिश्चित करने के लिए हमें कोर्ट जाना पड़ा था।' प्रदीप जी ने सिनेमा के जरिए आम लोगों तक अपनी पहुँच ही नहीं बनाई बल्कि उनके दिलों पर राज भी किया। इसीलिए लोगों की फरमाइशों पर इनके गीतों के लिए सिनेमाघरों में फिल्म की रील रिवाइंड की जाती और गाना फिर से सुनाया जाता।

□ □

अध्यक्ष, हिंदी विभाग,  
रामनारायण रुइया कॉलेज  
माटुंगा, मुंबई-४०००१९.  
मो. नं. ९९२०२८७३०४

## उपन्यास-अंश

● देवेश ठाकुर

## व्यक्तिगत

बारिश थम चुकी है।

बाहर आंगन में टप-टप की आवाज धीमी हो गयी है।

सुबह भी अभी सोई हुई है।

लेकिन मन्नू का सपना ज़ारी है :

उस के कस्बे की स्टेशन रोड। पुलिस स्टेशन से रेलवे स्टेशन तक फैली हुई। एक चौड़ी-सी गली जैसी। छोटी ईंटों से बनी हुई।

रोड के पहले चौराहे से कुछ आगे हाफिज नाई की दूकान। दूकान के ऊपर बनी हुई ८X१२ की कोठरी। मन्नू के बचपन के साल इसी कोठरी में बीते हैं।

कोठरी से आगे टीन की छत और उससे आगे एक छोटा-सा आंगन। बस।

छत के नीचे एक तरफ मिट्टी और गोबर से पुती रसोई। ...कुछ पानी के घड़े और बर्तन। दूसरी तरफ बाबू जी की खटिया। आगे, आंगन के एक कोने में लैट्रिन। यहीं पर थोड़ा हट कर कपड़े धोने की पाटी भी।

लैट्रिन से सटी हुई एक बड़ी-सी खिड़की। नीचे बाजार की तरफ खुलती हुई। खिड़की पर बैठ कर दूर तक दीखता बाजार का दृश्य। साइकिल, रिक्शे, मोची, ठेले, मजदूर। बच्चे-घेरा चलाते हुए। औरतें और मर्द खरीदारी करते हुए। और और भी बहुत कुछ। जगह-जगह कचरे के ढेर, इधर-उधर घूमते हुए सांड— सड़क के बीचोंबीच गोबर करते हुए। आवरा कुत्ते, कुतियों को सूँघते हुए... और... और... और...।

मन्नू इसी खिड़की पर बैठकर बाजार की पहल-पहल को देखता रहा है। घेरा चलाते हुए उस की उम्र के लड़के। चाटवालों के खोमचे। चूड़ियाँ खरीदती हुई लड़कियाँ। स्कूल जाते हुए

बच्चे...। खिड़की और कोठरी के बीच अम्मा इधर-उधर होती हुई। व्यस्त, उदास और चिंतित।

कोठरी।

कोठरी के भीतर पलस्तर उखड़ी दीवारें। दीवारों पर देवी-देवताओं की तस्वीरें। सीता-राम, राधा-कृष्ण, गणेश, सरस्वती। और भी बहुत से देवी-देवता। लक्ष्मी और शिव। हनुमान... राम के चरणों के पास बैठे हुए। और...

और एक पुराना निवाड़ का पलंग। किसी का दिया हुआ। अम्मा और मन्नू का बिस्तर।

एक तरफ दीवार से सटा कर लगाया हुआ लम्बा-सा तख्त। उस पर गेहूँ, ज्वार और चावल की बोरियाँ... चार-छह महीने का राशन। तख्त के एक किनारे पर टीन के दो ट्रंक जमाए हुए। पूरे परिवार के कपड़ों से अटे हुए। ट्रंकों के ठीक ऊपर एक अलगनी। बाबू जी का पायजमा टंगा हुआ। पिछले कुछ दिनों से मन्नू के सपना इसी कोठरी के इर्द-गिर्द घूमता रहा है। आज भी वह उसी सपने में है.....

बाबू जी चूल्हे के पास पड़ी खटिया पर बैठे हैं। हुक्के की गुड़गुड़। उन्होंने मन्नू को अपने पास बुला लिया है। मन्नू जानता है कि वे अब क्या कहेंगे।

— तो...।' बाबू जी उसकी तरफ देखते हैं।

मन्नू भी बाबूजी की ओर देखता है। कहता कुछ नहीं।

— देख बेटे, अब मेरे भीतर इतनी ताकत नहीं रही कि घर का बोझ उठा सकूँ। अब तो तुझे ही जिम्मेदारी लेनी है।'

मन्नू कुछ नहीं बोलता। बस, बाबू जी के मुरझाए चेहरे को ताकता रहता है।

— तू ग्यारहवीं में था, जब मैं रिटायर हो गया था। अब इन तीन सालों में फंड का सारा पैसा चुक गया है। खाने-पीने तक के लिए कर्जा लेने की नौबत आ गई है। और एक रिटायर्ड हवलदार को पेंशन भी कितनी मिलती है। तीस रुपली। ...इतने में घर का खर्च कैसे चलेगा? ...तू सुन रहा है न।'

— हाँ, बाबू जी।' मन्नू धीरे-से कहता है।

— मैं तो तुझे ग्रेजुएट तक भी पढ़ाने के हक में नहीं था। वह तो तेरी माँ थी जिसने अपने गहने बेचकर और कुछ पैसा अपने भाइयों से मँगवा कर तुझे देहरादून भेज दिया... आगे की पढ़ाई के लिए। ... मेरे पास तो तब भी हिम्मत नहीं थी।

मन्नू चुपचाप सर नीचा किए सुने जा रहा है। तभी अम्मा भी पास आकर बैठ जाती है।

— अब तूने काफी पढ़ लिया मन्नू। अपने बाबू जी की तरफ देख। कितने दुबला गए हैं। उनका तबियत भी खराब रहने लगी है। अब उनसे ज्यादा काम भी नहीं होता।... फिर तेरी बहिन भी है। उसकी शादी के लिए भी...। तू काम पर लगेगा तो कुछ तो मदद हो जाएगी।'

मन्नू सर उठा कर अम्मा की तरफ देखता है। वह कहना चाहता है कि तुम लोग समझते क्यों नहीं। बी. ए. में थर्ड क्लास वाले को कौन-सी नौकरी मिल जाएगी। और अगर कोई छोटी-मोटी मिल भी गयी तो उसमें कितने पैसे मिलेंगे। ...फिर तो सारी जिंदगी उसमें ही खटना पड़ेगा। नहीं, अम्मा! मुझे तो आगे पढ़ना ही पड़ेगा... तुम्हारे लिए न सही, अपने लिए ही सही।

लेकिन प्रत्यक्ष में वह कुछ नहीं कह पाता। उससे कुछ कहते नहीं बनता।

कुछ देर बाद अम्मा वहाँ से उठ जाती है।

घड़ी का अलार्म बजा है। मन्नू की जाग खुल जाती है। वह आँखें बंद किए ही बिस्तर के पास रखी घड़ी को टटोलता है और अलार्म को बंद कर देता है। फिर चादर से मुँह ढाँप कर सोने की कोशिश करने लगता है।

मन्नू कुछ देर तक लेटे-लेटे इधर-उधर होता रहता है। फिर धीरे-धीरे उसकी आँखों में नींद भरने लगती है। नींद में फिर से सपना उभरने लगता है:

मन्नू प्रकाश की दूकान पर बैठा है।

प्रकाश उसके बचपन का जिगरी दोस्त और सहपाठी है।

मन्नू का आना प्रकाश को अच्छा लगता है...।

उनमें बातों का सिलसिला चल निकलता है। बीच-बीच में हँसी। मुस्कराहट। गंभीरता। उदासी।

मन्नू स्कूली दोस्तों के बारे में पूछता है।

प्रकाश बतलाता है : लोमड़ी वालों का किसन कुमार रुड़की में इंजीनियरिंग कर रहा है।

सुशील अपने भाई के साथ बर्तनों की दूकान पर बैठ गया है। मोहिन्दर यहीं सरस्वती स्कूल की प्राइमरी में लग गया है। शमीम को उसके घरवालों ने अलीगढ़ भेज दिया है, कॉमर्स करने के लिए। लल्लू सिंह अपने परिवार के पुराने धंधे में लग गया है—कंबल बनाने के। और रघुवीर—मैट्रिक के बाद ही उसकी नौकरी लग गई, बाटा में। सेल्समैन की। वह उसी में खुश है। उसके बारे में तो तू जानता ही है ...।’

मन्नू हामी में सर हिला देता है।

—तू तो इतना पढ़-लिख लिया मन्नू। ग्रेजुएट हो गया। मैं भी आगे पढ़ना चाहता था। लेकिन लाला जी की बीमारी ने सब गड़बड़ कर दिया। दूकान पर बैठने की मजबूरी। अब तो इसी में खपना है...।’ कहते-कहते प्रकाश उदास हो जाता है।

—यार, मैं ग्रेजुएट होकर भी क्या कर लूँगा। इस रॉयल क्लास को लेकर क्या हो पाएगा।’

—कुछ तो होगा। और जो होगा, अच्छा ही होगा। ...अब क्या सोचा है?

—क्या सोचूँ यार। कुछ समझ में नहीं आता।

—अच्छा, चाय पीकर सोचना।’ प्रकाश मुस्कराता है। वह सामने वाले होटल के लड़के को इशारा करके दो चाय लाने के लिए कह देता है।

कुछ देर बाद लड़का चाय दे जाता है।

—ले...।’ प्रकाश मन्नू से कहता है।

मन्नू चाय का गिलास अपनी तरफ सरका लेता है।

कुछ देर की चुप्पी।

मन्नू चाय पीते हुए कुछ कहने को कसमसा रहा है। लेकिन उसके मुँह से बोल ही नहीं निकल पा रहे हैं।

—और पंडित जी कैसे हैं? बहुत दिनों से बाजार में दिखे नहीं। प्रकाश उसके पिता जी के बारे में पूछता है।

—बाबू जी वैसे तो ठीक हैं। लेकिन हमेशा उदास रहते हैं।

—क्या मतलब?

—अब तुझ से क्या छिपाऊँ प्रकाश। वही रोटी-पानी की किल्लत और क्या। थोड़ी सी पेंशन मिलती है। उससे क्या होता है। पिछले दो सालों से घर पी. एफ. के पैसों से चल रहा था।

अब वो भी...। कहते हैं कि मैं अब किसी काम पर लग जाऊँ; कि वे थक गए हैं...।

—...।’..

—उन्होंने तो हाथ खड़े कर दिए हैं कि आगे नहीं पढ़ा सकते।’ मन्नू का सर झुका हुआ है।

—...।’

—सोचता हूँ, किसी तरह एम. ए. में एडमिशन ले लूँ, देहरादून जाकर। तो बाद में वहाँ कुछ न कुछ हो ही जाएगा। पहले की तरह।’

—...।’ प्रकाश उसके चेहरे को देखे जा रहा है। फिर कुछ देर की चुप्पी।

—बस एडमिशन ले लूँ तो बाद में मैं खुद देख लूँगा।’

—...।’

—बी. ए. के दिनों में भी ट्यूशन से गुजारा किया। इस बार भी कुछ न कुछ तो मिल ही जाएगा। कोई न कोई काम ढूँढ लूँगा।’

—कितना खर्च होगा एडमिशन लेने में?’ प्रकाश गंभीर हो गया है।

मन्नू चुप रहता है। वह प्रकाश की ओर देखता है।

—मैं लाला जी से बात करके देखता हूँ।’

मन्नू की आँखें भर आई हैं। वह धीरे से उन्हें पोंछ लेता है।

—.....।’

—...।’

—...।’

—...।’

—...।’

—अच्छा तो चलूँ।’ चाय का गिलास खाली करके मन्नू उठने को होता है...।

बाहर दरवाजे की कुंडी खड़की है शायद। मन्नू आहट लेता है। कुंडी फिर खड़कती है।  
मन्नू आँखें मलते हुए उठता है। उसका सपना फुर्र हो गया है। सुबह हो गई है। हवा में ठंडक है। मन्नू जानता है, दूधवाला होगा।

लोटा लेकर वह आंगन से होते हुए दरवाजे तक आता है। और रोज़ की तरह उसमें पाव भर दूध डलवा लेता है।

आंगन के बीचोंबीच तुलसी का चौरा है। कमरे की ओर जाते हुए वह तुलसी की कुछ पत्तियाँ तोड़ लेता है।

कमरा। कमरे के कोने में रखा स्टोव। काँसे के दो गिलास। कुछ डिब्बे और कुछ बर्तन।  
मन्नू स्टोव को उठाकर हिलाता है।

स्टोव में तेल है। मन्नू की आँखों में संतोष झलक आता है।

मन्नू स्टोव जलाता है। सूँ...सूँ की आवाज़। स्टोव जल गया है। मन्नू उस पर चाय का पानी चढ़ा देता है। और उसमें चाय और तुलसी की पत्तियाँ डाल देता है।

मन्नू ने चादर की तह कर ली है और उसे तकिए के नीचे दबा दिया है।

जमीन पर दरी बिछी रहती है। नंगी दरी।

घड़ी फर्श से उठा कर तिपाई पर रख दी गई है।

.....

चाय का पानी उबलने लगा है। मन्नू उसमें थोड़ा-सा दूध डाल देता है।

मन्नू उठकर शक्कर का डिब्बा निकालता है। डिब्बा खाली है।

मन्नू के होठों पर एक फीकी हँसी उभर आती है।

वह दूसरा डिब्बा उठाता है। डिब्बे में थोड़ा-सा गुड़ है।

मन्नू के चेहरे पर आश्वस्त का रंग फैल जाता है।

काँसे का गिलास। मन्नू उसमें चाय उँडेलता है। और गुड़ के एक टुकड़े को मुँह में

डालकर एक तरफ गाल में दबा लेता है।

फिर चाय की एक घूँट लेता है। चाय मीठी हो गयी है।

मन्नू का मूड सरसा गया है।

चाय पीते हुए मन्नू का सोचना चल रहा है।

एक साल हो गया देहरादून लौटे हुए। प्रकाश ने लाज रख ली।

दोस्ती का धर्म निभा दिया उसने। उस मुसीबत में अगर वह मदद नहीं करता तो...।

मेरे लिए कितने कठिन अंतर्द्वन्द्व के दिन थे वे। एक ओर आगे पढ़ने और कुछ बनने की महत्वाकांक्षा। दूसरी ओर घर की आर्थिक समस्याएँ और बाबू जी का गिरता स्वास्थ्य। बवासीर की बीमारी। धीरे-धीरे दुबलाता शरीर। साधनों का अभाव ही अभाव। रोज़-रोज़ के तनाव। बहुत मुश्किल हो गया था जीने का रास्ता निकालना।

लेकिन अन्ततः रास्ता निकल ही आया। दूसरे दिन शाम को प्रकाश ने हाथ में सौ रुपए थमा दिए...। सौ रुपए...। सौ रुपए कम नहीं होते। एडमिशन लेने के बाद भी कुछ बच रहा था।

प्रकाश बोला था—यार मन्नू, पढ़ाई बड़ी चीज़ होती है। तू अपनी पढ़ाई पूरी कर लेगा तो मैं समझूँगा, मैंने पढ़ लिया। और हाँ, आगे भी कभी जरूरत पड़ी तो मुझे लिख देना। .... लालाजी ने कहा है।

और तब उन सौ रुपयों को लेकर और बाबूजी को समझा कर वह देहरादून लौट आया था...।

देहरादून में मन्नू के लिए समय बीतता रहा। कभी जल्दी-जल्दी। कभी आहिस्ता-आहिस्ता।

फिर एम. ए. की पढ़ाई। काम के लिए दौड़ भाग। कभी बुकसैलर के यहाँ सेल्समैन। कभी किसी प्रैस में प्रूफ रीडर। कभी कहीं ट्यूशन और कभी सुबह-सुबह अखबार बाँटने का धंधा भी।

एक खटारा साइकिल। पाँच रुपए माहवारी पर। कभी पंक्चर हो जाता, कभी चेन उतर जाती।

कितना चिढ़ जाता था वह तब। लेकिन चिढ़कर क्या हासिल होगा, वह सोचता।

अपने को शांत करने की जद्दोजहद। अपने को समझाने का प्रयास। अपने को दिलासा देने की कोशिश कि सब ठीक हो जाएगा। सब ठीक हो जाता है... बस, हिम्मत नहीं हारनी है। उसे अपनी पढ़ाई करनी है... पढ़ाई पर ध्यान देना है। तभी हालात बदलेंगे। हालात बदलते हैं। बस, एक ज़िद चाहिए। जिंदगी की मुश्किलें इन्सान को मजबूत बनाती हैं... उसे अपने पर विश्वास रखना होता है। और...

मनू सोचता है और सोचता रहता है।

चाय हो गयी है।

अब ...।' वह सोचता है।

अब नित्य-कर्म। नहाना-धोना। थोड़ा पूजा-पाठ।

मनू आस्तिक हो गया है।

तभी उसे याद आता है—रात बाल्टी में कुछ कपड़े भिगो दिए थे। उन्हें धोना है।

अगले हफ्ते कॉलेज भी खुल रहा है।

□ □

शीघ्र प्रकाश्य 'व्यक्तिगत' से

## कहानी

● ब्रजकिशोर झा

### पिया मैं सज के आई

जब अमीश मुंबई आया था, तब उसके पास मैट्रिक पास की एक सर्टिफिकेट थी और एक संबंधी का पता। संबंधी ने कहा 'यहाँ नौकरी नहीं मिलती, तुमने बेकार राजस्थान छोड़ा। अच्छा होता अगर वहीं कुछ कर करा लेते। सभी राजस्थान से बाहर यही सोच कर निकलते हैं कि बाहर जाते ही बिरला-अंबानी हो जाएँगे। खैर आये हो तो मुंबई घूम कर ही जाना। दस दिन बाद का रिजर्वेशन करा देता हूँ।' अमीश दस दिनों तक घूमता रहा। हाथ में अखबार और पॉकेट में मैट्रिक पास की सर्टिफिकेट। और ठीक वादे के मुताबिक जब संबंधी ने उसे रिटर्निंग का रिजर्वेशन पकड़ा दिया तो वह टिकट लेकर अंधेरी वेस्ट के उसी चायवाले के पास चला आया, जिससे इन दस दिनों में कई बार मिला था। चायवाले को जब अमीश ने रिटर्निंग टिकट दिखाया तो वह हँस पड़ा, 'बुरा नहीं मानने का। बोले तो ऐसेइच होता है अपना लोग। टेंशन नहीं लेने का गुरु। अपुन है ना! यहाँ पर रहने का और अपुन लोगों को थोड़ा हेल्प करने का। इतना बड़ा तबेला किस दिन काम आएगा?' उसने अपने छोटे से चाय की दूकान का मजाक उड़ाया। अमीश ने पंद्रह-बीस दिन यहाँ कप-प्लेट धोकर महिला फिल्म निर्देशक दीपा नय्यर के सिक्कुरिटी गार्ड की नौकरी पा ली। अमीश अपने संबंधी के यहाँ से निकलने के बाद उसके यहाँ दुबारा नहीं गया, ठीक ऐसे ही चायवाले के पास भी दुबारा नहीं गया। कभी-कभी चाय वाले की गाली यादकर वह दर्द से भर जाता था। उसे इसका मलाल था कि चाय वाले ने उसकी मजबूरी में उससे एक नौकर का काम लिया! कितनों के जूठे ग्लास-बर्तन साफ़ करने पड़े। बदले में उसके टूटी बेंच पर सोना और पावरोटी और छोले से आधा पेट भर लेना।

दीपा नय्यर की नौकरी में अमीश को किसी बात का दुःख नहीं। गेट पर ही केबिन बना हुआ है, उसमें बैठा रहता है और जरूरत पड़ी तो गेट में ताला लगाकर सो भी जाता है। दीपा नय्यर को सलाम करता है और दीपा भी उसे देखकर मुस्करा देती है। उसकी मालकिन दीपा कोई छोटी-मोटी डायरेक्टर नहीं है, पचासों 'कला फिल्म' बना चुकी हैं। भले ये फिल्में आम आदमी नहीं देखता, मगर 'कांस' से लेकर हर जगह अंतर्राष्ट्रीय फिल्म महोत्सव में दिखाया

जाना है ही। एक बार तो ऑस्कर जाते-जाते बची। नसीब खराब था। खैर इससे क्या। दीपा की अवस्था चालीस के करीब है मगर है कुंवारी ही—दुनिया की नजर में।

शुरू-शुरू में कितनी ही कारें आती-जाती, अमीश सिर्फ सलाम ठोकता। गाड़ी के काले सीसे के पीछे कौन बैठा होता, इससे उसको क्या? मगर ये बात हमेशा नहीं रही और अमीश का प्रवेश घर में होने लगा। जहाँ बाकी नौकरों की छुट्टी कर दी जाती, वहीं अमीश की कभी छुट्टी नहीं होती। बड़े घरों में फर्नीचर और नौकरों में कोई फर्क नहीं होता। अमीश को कुछ दिनों में ही इसका अहसास हो गया। कितनी ही बार अमीश ने दीपा नय्यर को अपनी नंगी तस्वीर खिंचवाती देखा, कितनी ही बार उसे आपत्तिजनक स्थिति में देखा और देखने की आदत डाल ली। अमीश की उपस्थिति से दीपा को कुछ भी लेना-देना नहीं था। समय के साथ अमीश गार्ड से दीपा का प्रायवेट सेक्रेटरी बन गया और फिर असिस्टेंट डायरेक्टर। 'साउंड रिकॉर्डिंग .. रनिंग... एक्शन... कट...ओके।' डायरेक्टर बनने के बाद अब तो यही सब अमीश सपने में भी बड़बड़ाता है। 'असिस्टेंट डायरेक्टर' से 'डायरेक्टर' बनने के लिए 'असिस्टेंट' शब्द हटाना पड़ता है, मगर यहाँ 'असिस्टेंट' जोड़ना पड़ा! 'असिस्टेंट' बनी दिलनशी।

दीपा को लगा था कि अमीश जिंदगी भर उसका गुलाम बनकर रहेगा और इसी यकीन ने उसको इतना आत्मविश्वास से भर दिया कि हर प्रोड्यूसर से, हर फिनान्सर से, हर वितरक से अमीश को ही मीटिंग करने भेज देती। दीपा जिस ढर्रे की डायरेक्टर है, उसके फिल्मों का दर्शक कम होता है मगर चर्चा खूब होती है और इस क्रम में वह अमीश को ही भेजती, प्रेस से लेकर अवार्ड तक लाने के लिए। मगर अमीश अपनी जमीन ही इस दरम्यान बना रहा था। एक दिन जोर का झटका धीरे से दीपा को तब लगा, जब अमीश ने रात के दो बजे खुले तौर पर उससे जंग का ऐलान कर दिया, 'नहीं, मैडम मुझे माफ़ कीजिए। मुझसे रोज-रोज काम कर के आने के बाद ये सब नहीं होता। आप अपने लिए कोई 'सुपरमैन' रख लीजिए। दिन भर सेट पर बिताने के बाद रात में बेड पर की ड्यूटी नहीं होगी मुझसे।'

'How dare you? तुम होश में हो? तुमको पता है कि किसको इनकार कर रहे हो?' दीपा शेरनी की तरह गरजी।

'हाँ, पता है। Just a man eater. आपने मुझे क्या अरबी गुलाम समझ लिया है? मैं कोई प्लेबॉय नहीं हूँ।' अमीश ने ऐसे रौब दिखाया, जैसे वह पहली बार दीपा मेहता के साथ सोयेगा।'

'तुझे मैंने गेट पर से सेट पर लाकर बहुत बड़ी गलती की। आज मुझ पर ही भौक रहा है... साले कुतिया की औलाद कुत्ते।'

'खबरदार जो मेरी माँ को गाली दी।'

'दूँगी, सौ बार दूँगी, कुतिया, कुतिया, कुतिया।' दीपा ने अमीश को आग कर दिया।

अमीश से रहा नहीं गया और वह दीपा के नाइट वियर के चीथड़े-चीथड़े कर, उसे खींचते हुए बाथरूम में ले गया, पानी से भरे बाथटब में पटक दिया और उसी वक्त निकल गया। और बस तब से अमीश भूल गया कि दीपा नाम की किसी महिला डायरेक्टर को वह जानता भी है।

दिलनशी का बाप मुंबई का नामी डॉन कय्यूम काना है। उससे कई पार्टियों में अमीश मिल चुका है, इसीलिए दीपा के सुपारी किलर अमीश का कुछ भी नहीं बिगाड़ पाए, वरना अमीश जा चुका होता। दिलनशी से अमीश को तभी से लगाव है जब वह ऐक्ट्रेस बनने का प्रस्ताव लेकर आई थी और अपने परिचय में बताया था, 'मेरे पापा बोरीवली स्कूल में पढ़ाते हैं।' मगर दीपा ने जब उसकी मँहगी जीवन शैली की सच्चाई का पता लगवाया तब पता चला कि यह कय्यूम काना की बेटी है। दिलनशी ने झूठ बोला था इसलिए दीपा को उससे नफ़रत हो गई थी। एक झूठे को दूसरे किसी का एक झूठ भी बर्दाश्त नहीं होता। वहीं इसी झूठ के चलते अमीश को उससे लगाव हो गया था।

मुंबई में एक चीनी चोर की बेटी भी अपने आपको बड़े डॉन की बेटी ही साबित करना चाहती है, वहीं दिलनशी तो इतने बड़े डॉन की बेटी थी, मगर अपने आपको साधारण स्कूल टीचर की बेटी बताया। सब समय-समय की बात है, मिडिया ने डॉन लोगों की जो 'इमेज' बना दी है कि कुछ दिनों बाद बच्चे होने से पहले माँ-बाप प्रार्थना करेंगे, 'हे भगवान मेरा बेटा शहर का सबसे बड़ा डॉन बने।' यहाँ दिलनशी को इस बात की जरा भी खुशी नहीं कि उसका बाप डॉन है। जब वह अमेरिकन स्कूल ऑफ बोम्बे में पढ़ रही थी, तब भी अपनी सहेलियों से उसे अपने बाप के पेशे के बारे में बात करने में शर्म आती थी। वह अपने बाप की चर्चा छोड़कर बाकी सब कुछ पर चर्चा करती। अमेरिकन स्कूल में ही ड्रामा करते-करते उसे एक्टिंग का शौक लगा। जब स्कूल पास किया तो बिना बाप को बताए फिल्म प्रोड्यूसर से मिलने लगी। उसे किसी ने कोई महत्त्व नहीं दिया। अगर अपने बाप से एक बार कह देती तो बहुत संभव था कि प्रोड्यूसर उसे घर से ले जाकर फिल्म में चांस देता और मनपसंद हीरो को उसके साथ कास्ट किया जाता। अमीश ने दीपा के मना करने के बावजूद कि 'एक डॉन की बेटी है, ये क्या ऑफ बिट फिल्म में काम कर पाएगी... बहुत ज्यादा हुआ 'बट्स' हिलायेगी कॉमर्सियल फिल्म में।' अमीश ने उसे अगली फिल्म में ले लिया। जब फिल्म शुरू हुई तो दिलनशी ने बार-बार यह जोर देकर कहा कि अमीश ही जब सब कुछ करता है तो फिर दीपा कैसी डायरेक्टर। मगर अमीश उसे समझाता रहा कि इंटरनेशनल मार्केट में दीपा का ही नाम है और इसी वजह से ये फिल्में बिक जाती हैं और न भी चलें तो कम से कम आठ-दस अवार्ड तो मिल जाते हैं। इस तरह दिलनशी के साथ दीपा के निर्देशन की फिल्म 'बस्ती' तैयार थी। जब प्रीमियर शो में दिलनशी ने निर्देशक के जगह दीपा का नाम देखा तो अमीश पर बरस पड़ी, 'ब्लडी विमेन। कुछ भी किया नहीं और Directed by Deepa। जस्ट अ ब्लडी बिच। यू आर आल्सो ए फूल, व्हाई डॉट यू मेक योर ओन फिल्मस्? तुम एक बार कह दो तो हजारों प्रोड्यूसर तुम्हारे कदमों में पड़े होंगे।' दिलनशी की बातें साधिकार थीं जो अमीश को बहुत अच्छी लगीं,

बिल्कुल वैसे जैसे कोई जले हुए पर चंदन का लेप लगा रहा हो।

आज अमीश बहुत बड़ा डायरेक्टर है, ऑफबीट फिल्मों का नहीं, कमर्शियल फिल्मों का। दीपा के साथ ही उसने ऑफबीट सिनेमा को भी छोड़ दिया। और दिलनशीं उसकी पेटेंट हेरोइन। मगर अभी तक अमीश दिलनशीं को बस सामान्य रूप से ही ले रहा है। वह जानता है कि दिलनशीं ने उसकी सारी फिल्मों को हिट बनाया है, उसे राह दिखाया है। मगर क्यों? बस इस प्रश्न पर वह कुछ भी नहीं सोचता। शूटिंग चल रही है। कोरियोग्राफर का ही काम आज ज्यादा है, फिर भी अमीश सेट पर से हट नहीं रहा। अमीश ऐसे किस्म का डायरेक्टर है कि वह किसी भी सीन, किसी भी सॉर्ट में नहीं हटता। हर चीज उसकी आँखों के सामने होनी चाहिए। चौबीस साल की कोरियोग्राफर महनाज बाईस साल की दिलनशीं को सीन समझा रही हैं 'बस आपको यहाँ पर, ya like that... 1 2 3 4... 1 2 3 4... 1 2 3 4, हाँ, कमर को जरा ऊपर पीछे से, अरे suppose that कोई आपको सामने से एक घूसा मारता है और आपकी कमर पीछे की तरफ उछाल खाती है हा हा हा... ya exactly like that दिलनशीं ने अच्छी तरह से इस सीन के लिए डांस के स्टेप्स सीख लिए हैं।' 'अमीश सर, शूट करने से पहले एक रिहर्सल हो जाए, फाइनल, ओके' महनाज ने कहा।

'ओके, फायनल शूट से पहले रिहर्सल शुरू करें। ओके, वैरी गुड।' महनाज और अमीश ने एकसाथ कहा और ताली बजाई। अब महनाज अमीश के पास आकर बैठ गयी, 'गाना शुरू करो। लाईट, केमरा, साउंड रनिंग... एक्शन...' गाना चल रहा है, 'पिया मैं सज के आई, पिया मैं सज के आई, करे क्यूँ दे रे, कि सजना मेरी तरफ से, कि सजना मेरी तरफ से, नजर न फेर रे... पिया मैं सज के आई, पिया मैं सज के आई...' दिलनशीं ने इस गाने में जान डाल दी अपने अभिनय से। 'वाह दिलनशीं! you have done a great job. क्लोज-अप और मीडियम में ऐसे बहुत कम सॉर्ट्स ही मैं निकाल पाती हूँ! बताओ तो कोई चक्कर है क्या हा हा हा!' महनाज की बात सुनकर दिलनशीं की नजर अमीश की तरफ मुड़ गयी और उससे नजर मिलते ही वह शरमा गयी। अमीश वहाँ से उठकर चला गया।

'ओह डियर सिनेमा में काम करती हो और फिर लाज। देखो I am also a girl and so तुम्हें मुझसे बात करने में तो कम से कम कोई शर्म झिझक नहीं होनी चाहिए। लड़कियाँ भी तो प्यार करती हैं और सच्ची प्यार, you know not just for sex, as the boys do, आधे घंटे सेक्स करो और चार घंटे की मस्त नींद, जस्ट स्टूपिड, ब्यायज! खोजते रहते हैं किसको ट्राय करें, जस्ट लाइक डॉग। जैसे अमीश सर को ही लो, अरे अपने ये डायरेक्टर, पहले दीपा के साथ सोता था और अब उसके फिल्ड पर कब्जा जमाकर डायरेक्टर बन गया है।' 'मेहनाज अपनी बात भी नहीं पूरा कर पाई थी। 'स्टॉप इट अमीश वैसा नहीं है। दीपा ने अमीश की मजबूरी का फायदा उठाया था और उसे यूज कर रही थी, मगर अमीश वैसा नहीं है, I know him, he is a real honest man.'

'मैं जानती हूँ। मैं तुम्हारी परीक्षा ले रही थी और तुम हंड्रेड परसेंट की हकदार हो। दिस इज टू लव! तुम अमीश सर से प्यार करती हो! यू लव अमीश!' 'हाँ, पर मैं नहीं जानती कि वह भी मुझे?' दिलनशीं बहुत भावुक हो उठी। अगला साउंड क्लिप, 'लाईट ... साउंड...' फिल्म के आठ गानों में से पाँच में दिलनशीं ही थी। मेहनाज अपने हिस्से का सारा काम तीन महीने में ही करके जाने को थी। एक दिन पता नहीं क्यों उसे ऐसा लगा कि अमीश से पूछा जाय कि क्या वह दिलनशीं को प्यार करता है? आखिर दीपा के तलवे चाटने वाले को इसी लड़की ने ये ऊँचाई दी है, ये सोचकर वह एकांत में अमीश से मिलने गयी। अमीश चाय पी रहा था। 'अमीश कैसे हो? एक बात जाननी थी, क्या तुम दिलनशीं को प्यार करते हो?' मेहनाज ने पूछ ही लिया

'ये क्या तुम?' अमीश घबरा गया।

'सच सच बताओ' मेहनाज ने जिद किया।

'मगर ये पूछना तुम्हारा बिजनेस नहीं है।'

'मगर एक दोस्त की हैसियत से पूछ रही हूँ।'

'नो, नेवर, कभी नहीं।'

'ह्वाट?' मेहनाज चौंक गयी।

'एक डॉन की बेटी से भी कोई शादी करता है।' अमीश ने मुंह फेरते हुए अपने दिल की बात कही। 'और डॉन की बेटी को सीढ़ी बनाकर फिल्म फेयर, जी सीने अवार्ड लेता है।' मेहनाज भड़क गई। 'ये मेरा अपना टेलेंट था। आज न कल कोई न कोई प्रोड्यूसर मुझे मिल ही जाता।'

'अमीश, मैं जब बच्ची थी तभी से इंडस्ट्री को जानती हूँ। मेरी माँ भी कोरियोग्राफर थी you know that. यहाँ हर कोई हर किसी को सीढ़ी बनाता है। दुनिया को लव स्टोरी बनाकर दिखाता है, बेचता है और खुद साला बिजनेस करता है, जो चलता है उसी को लो! अभी दिलनशीं चल रही है इसलिए उसको ले रहे हो!' She is a big hit now. 'स्टॉप इट! उसके एहसानों को मैं भूला नहीं हूँ और इसीलिए उसे अपने हर फिल्म में हेरोइन बना रहा हूँ।'

'क्या उसमें टेलेंट नहीं है?' 'है, बिल्कुल है। मगर मैं उससे टेलेंट के लिए शादी तो नहीं कर सकता। मैं एक डायरेक्टर हूँ, बहुत सी लड़कियाँ मेरे लाइफ में आएँगी, अरे यार! मैं किस-किस से शादी करता चलूँ। मेरा बिजनेस है प्यार बेचना, प्यार करना नहीं।'

□ □

३/D,एन्क्लेव, कोलकाता-७०००७९

## ● सुशान्त सुप्रिय

# दलदल

‘मैं उस समय बारह साल का था। वह दस साल का रहा होगा। वह—मेरा सबसे अच्छा मित्र सुब्रोतो।’ बूढ़े की भारी आवाज़ कमरे में गूँज उठी। वह हमें अपने जीवन की सत्य-कथा सुना रहा था।

कुछ पल रुक कर बूढ़े ने फिर कहना शुरू किया, ‘मेरा जन्म सुंदरबन इलाके के पास एक गाँव में हुआ। गाँव से दो मील दूर दक्षिण में दलदल का इलाका था। पिता मछुआरे थे जो गाँव के उत्तर में बहती नदी से मछलियाँ पकड़ने का काम करते थे। पिता बताते थे कि पच्चीस-तीस मील दूर जकर यह नदी एक बड़ी नदी में मिल जाती थी। गाँव के पूरब और पश्चिम की ओर घने जंगल थे।’

मेरा मित्र सुब्रोतो बचपन में ही अपाहिज हो गया था। पोलियो की वजह से उसकी एक टाँग हमेशा के लिए बेकार हो गई थी। पर मेरी सभी शरारतों और खेलों में वह मेरा भरपूर साथ निभाने की कोशिश करता था। सुब्रोतो की आवाज़ बहुत सुरीली थी। वह बहुत मीठे स्वर में गीत गाता था।

हमें गाँव के दक्षिण में स्थित दलदली इलाके की ओर जाने की सख्त मनाही थी। उस दलदल के भुतहा होने के बारे में अनेक तरह की कहानियाँ प्रचलित थीं। हम बच्चे अक्सर गाँव के उत्तर में बहती नदी के किनारे पर बैठा नदी के किनारे जाकर खेलते थे। मैं नदी में किनारे के पास ही तैरता रहता जबकि सुब्रोतो किनारे पर बैठा नदी के पानी में एक कोण से चपटे पत्थर फेंक कर उन्हें पानी की सतह पर फिसलता हुआ देखता।

अपने हम उम्र बच्चों के बीच मैं बड़ा बहादुर माना जाता था। दरअसल मैंने एक बार गाँव में घुस आए एक लकड़बग्घे पर पत्थर फेंक-फेंक कर उसे गाँव से बाहर भगा दिया था। एक बार नदी-किनारे खेलते-खेलते गाँव के कुछ बच्चों ने मुझे चुनौती दी कि क्या मैं गाँव के दक्षिण के दलदली इलाके में अकेला जा सकता हूँ? बात जब इज्जत पर बन आई तो मैंने चुनौती मान

ली। हालाँकि सुब्रोतो ने मुझे ऐसा करने से मना किया पर तब तक मैंने हामी भर ली थी। यह तय हुआ कि कल मैं गाँव के दक्षिण में स्थित दलदली इलाके में जाऊँगा और सकुशल लौट कर दिखाऊँगा।

नियत दिन सुबह गाँव के सभी बच्चों की टोली गाँव के दक्षिण छोर पर पहुँची। मैं और सुब्रोतो भी उन सब के साथ थे। मुझे दो मील दूर के दलदली इलाके में जाकर कुछ समय वहाँ बिताना था और फिर सकुशल वापस लौट कर दिखाना था। सबूत के लिए मुझे दलदल की कुछ गीली मिट्टी साथ ले जाए जा रहे थैले में भर कर वापस लानी थी। बाकी बच्चे वहीं मेरा इंतजार करनेवाले थे। उस दलदली इलाके में जाने से सभी डरते थे।

लेकिन ऐन मौके पर मुझे भी उस दलदली इलाके में अकेले जाने में डर लगने लगा। मैंने बाकी बच्चों से इजाजत माँगी कि मेरा प्रिय मित्र सुब्रोतो भी मेरे साथ जाए। बाकी बच्चे बड़ी मुश्किल से माने पर सुब्रोतो ने दलदली इलाके में जाने से साफ इंकार कर दिया। जब मैंने उसे हमारी मित्रता का वास्ता देकर भावुक किया तब जाकर वह मेरे साथ चलने के लिए तैयार हुआ।

आखिर उस सूर्य-जले दिन हमने अपना सफ़र शुरू किया। दो-दो मील चल कर अंत में हम दोनों उस इलाके में पहुँच गए। सामने खदकता हुआ दलदल था जिसमें डरावने बुलबुले फूट रहे थे और अजीब-सी भाफ़ उठ रही थी। दलदल के किनारे से कुछ दूर पहुँच कर हम दोनों बैठ गए। सुब्रोतो लंगड़ा कर चलने की वजह से बेहद थक गया था और हाँफ़ रहा था। लेकिन असली काम तो अभी बाकी था। सबूत के तौर पर हमें दलदल की थोड़ी गीली मिट्टी साथ लाए थैले में भरकर वापस ले जानी थी।

सुब्रोतो को वहीं छोड़कर मैं दलदल की ओर आगे बढ़ा। जमीन घास, मरे हुए पत्तों और फिसलन भरी काई से ढँकी हुई थी। ठीक से कुछ पता नहीं चल रहा था कि कहाँ ठोस जमीन खत्म हो गई थी और गहरा दलदल शुरू हो गया था।

अगला कदम जमीन पर रखते ही मैंने पैर को धँसता हुआ महसूस किया। इससे पहले कि मैं सँभल पाता, मेरा दूसरा पैर भी दलदल में धँसने लगा था।

मैं सुब्रोतो का नाम लेकर जोर से चिल्लाया। लेकिन जब तक सुब्रोतो लंगड़ाते हुए मेरे पास पहुँचता, मैं कमर तक दलदल में धँस गया था। जैसे नदी में डूबता हुआ आदमी तिनके को भी सहारा समझकर बचने के लिए व्याकुल होकर छटपटाता है, उसी तरह मैंने भी सुब्रोतो के अपनी ओर बढ़े हुए हाथ को कस कर अपने हाथों में पकड़ लिया और व्याकुल होकर छटपटाते हुए खुद को किसी तरह दलदल से बाहर निकालना चाहा। लेकिन जब मैंने उसके हाथ के सहारे दलदल से बाहर निकलने की कोशिश की तो उसका हाथ खींचने की वजह से सुब्रोतो के पैरों की किनारे पर से पकड़ ढीली हो गई और वह भी मेरे साथ ही दलदल में आ



गिरा। देखते-ही-देखते वह भी दलदल में कमर तक धँस गया। दलदल हर पल हम दोनों को नीचे खींचता जा रहा था। घबरा कर मैंने इधर-उधर देखा। किनारे पर उगे एक बरगद के पेड़ की शाखाएँ दलदल के ऊपर फैली थीं। वहाँ से कुछ लंबी जटाएँ नीचे दलदल की ओर आ रही थीं। मैं पूरा जोर लगाकर ऊपर की ओर उचका। पता नहीं यह मेरे उचकने का असर था या जटाओं को ही मुझ पर दया आ गई। उस जटा की पकड़ के सहारे मैं किसी तरह धीरे-धीरे खुद को दलदल से बाहर खींचने में कामयाब हो गया। मैं वैसे भी शरीर से हूँ-पुष्ट था। जटा को पकड़ कर मैं बरगद की शाखा पर चढ़ गया। तब तक सुब्रोतो छाती तक दलदल में धँस चुका था।

मुझे पता था, यदि मैंने सुब्रोतो को बचाने के लिए कुछ नहीं किया तो दलदल उसे साबुत निगल जाएगा। लेकिन मेरे हाथ-पैर ठीक विपरीत दिशा में काम कर रहे थे। डर ने मुझे जकड़ रखा था। मेरी देह जल्दी-से-जल्दी उस दलदल की पहुँच से दूर भाग जाना चाहती थी।

मुझे खुद भी नहीं याद, किस तरह मैं पेड़ से उतरकर किनारे पर पहुँचा। जब मुझे होश आया, तब तक सुब्रोतो गले तक दलदल के भीतर जा चुका था। लेकिन उसके हाथ अब भी बाहर थे। मैंने भाग कर पेड़ से लटकती एक लंबी जड़ तोड़कर उसकी ओर फेंकी। पर शायद तब तक बहुत देर हो चुकी थी। हालाँकि सुब्रोतो ने जटा अपने हाथों में पकड़ी और मैंने उसे बाहर खींचने की कोशिश भी की किंतु वह जटा सुब्रोतो के अशक्त हाथों से बार-बार छूट जाती थी। संभवतः वह उस दलदल में बहुत गहराई तक धँस चुका था। शायद उसकी देह में अब अधिक ऊर्जा नहीं बची थी। या फिर कोई अथाह शक्ति तमाम कोशिशों के बावजूद उसे धीरे-धीरे नीचे खींचती चली जा रही थी।

देखते-ही-देखते सुब्रोतो दलदल में गायब होने लगा। मेरी आँखों के सामने ही दलदल ने उसे जिंदा निगल लिया। नीचे जाते समय उसके चेहरे पर एक अजीब कातर भाव था, जैसा भाव मारने के लिए ले जाए जा रहे बकरे के चेहरे पर होता है। एक अजीब सी आवाज़ हुई और सुब्रोतो का सिर दलदल के भीतर गायब हो गया। दलदल की सतह पर पहले जहाँ सुब्रोतो था, वहाँ कुछ पल बड़े-बड़े बुलबुले फूटते रहे। फिर एक ऐसी मनहूस सघन चुप्पी वहाँ छा गई जैसे सारे विश्व की आवाज़ें किसी दानवी शक्ति ने सोख ली हों।

मैं सन्न रह गया। सब मेरी ही गलती थी। वह तो इस दलदली इलाके में आना ही नहीं चाहता था। मैं ही उसे मौत के मुँह में घसीट लाया। मैं अपनी जगह पर जड़ हो गया था।

सुब्रोतो को दलदल में गायब हुए एक-दो मिनट बीच चुके थे। तभी एक अजीब-सी भयावह आवाज़ हुई — जैसे गले में कुछ फँस जाने पर कोई चिल्लाने की मर्मांतक कोशिश कर रहा हो।

अब मैं आपको जो बताऊँगा, उस पर आप यकीन नहीं करेंगे। मुझे मालूम है, आपको यह

असंभव लगेगा। आप कहेंगे — वह मेरा भ्रम था। वहम था। पर नहीं। मैं अपने पूरे होशो-हवास में था। यही सच है। दलदल में पूरा धँस कर गायब हो जाने के लगभग दो मिनट बाद एक अजीब-सी भयावह आवाज़ के साथ अचानक सुब्रोतो का कीचड़ से सना सिर और दोनों हाथ दलदली मिट्टी से ऊपर निकल आए। जी हाँ, मेरा सबसे अच्छा मित्र सुब्रोतो जिसे कुछ देर पहले दलदल पूरा का पूरा लील गया था, उसने एक झटके से अपना कीचड़ सना सिर और अपने दोनों हाथ दोबारा दलदल से बाहर निकाल लिए थे। क्या उसने अपनी समस्त संचित ऊर्जा केंद्रित करके जीवित बचे रहने का एक एक अंतिम महा प्रयास किया था? क्या वह मौत के पंजों में छटपटा रहे जीवन की एक अंतिम फड़फड़ाहट थी? या वह कुछ और ही था जो मेरी समझ और कल्पना, दोनों से परे था? ऐसा मैं इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि सुब्रोतो का चेहरा उसका अपना चिर-परिचित चेहरा नहीं लग रहा था। मेरा वह मित्र नहीं लग रहा था जिसे मैं बरसों से जानता था।

दरअसल सुब्रोतो के कीचड़-सने चेहरे पर एक विकृत मुस्कान फैली थी जिसके भीतर से उसकी दो खुली आँखें किसी अतिरिक्त ऊर्जा से चमक रही थीं। दहकते अंगारों-सी लाल आँखें? मेरी दिशा में फैले उसके दोनों हाथ मदद माँगते-से नहीं लग रहे थे बल्कि मुझे पकड़ कर उस भुतहे दलदल में खींच लेने को आतुर से लग रहे थे। बल्कि यदि मैं पास होता तो वे हाथ मुझे निश्चित ही दबोच लेते।

मैं बेहद डर गया और थर-थर काँपने लगा। हालाँकि मेरा जहन मुझे कह रहा था कि मैं फिर से पेड़ से तोड़ी गई लंबी जड़ उसकी ओर फेंक कर उसे बचाने का प्रयास करूँ, किंतु मेरी देह इस सोच के विरुद्ध एकजुट हो गई थी। बदहवास सा मैं पलटा और वहाँ से सरपट भागा। बहुत दूर जाकर ही मैंने हाँफते हुए मुड़कर देखा। सुब्रोतो का सिर अब दोबारा दलदल में नीचे धँसने लगा था। किंतु उसके दोनों हाथ अब भी मुझे अपनी ओर बुलाते प्रतीत हो रहे थे।

जब मेरी आँख खुली तो मैं गाँव में अपने घर के बिस्तर पर पड़ा था। मेरी माँ मेरे सिरहाने बैठी थी। पिता बगल में खड़े थे। मैं उन्हें सुब्रोतो वाली घटना बताकर रोने लगा। माँ ने मुझे सीने से लगा लिया। तब पिता ने बताया कि जब मैं कई घंटों तक नहीं लौटा तो गाँव के बच्चे बड़ों को लेकर दलदली इलाके की ओर गए। मैं उन्हें दलदल से कुछ दूर जमीन पर बेहोश पड़ा मिला था। तेज बुखार में तपता हुआ। वे सब मुझे उठा कर गाँव ले आए। पिता ने बताया कि मैं तीन दिनों तक नीम-बेहोशी की हालत में बिस्तर पर पड़ा सुब्रोतो का नाम बड़बड़ाता रहा था। गाँव का ओझा आकर अपना यत्न कर गया था। उसका कहना था कि उस भुतहा दलदल वाले इलाके में जाने की वजह से मेरे अंदर किसी प्रेत का वास हो गया था। लेकिन अंत में पड़ोसी गाँव के वैद जी के देसी उपचार से ही तीन दिन के बाद आज मुझे होश आया था।

उस त्रासद घटना के बाद मेरा जीवन पहले जैसा ही हो पाया। सुब्रोतो के पिता इस सदमे से अर्द्ध-विक्षिप्त हो गए। वे मुझे अक्सर गाँव के दक्षिणी दलदली इलाके की ओर बौराए से

भटकते दिखते। मैं इस दुर्घटना के लिए खुद को कभी माफ नहीं कर पाया। मुझे लगता, मैं सुब्रोतो को बचा सकता था। लेकिन मैं कायर निकला। भयभीत मैं उसे दलदल में धँसता हुआ छोड़कर भाग आया। उसकी वह अंतिम छवि मेरे स्मृति-पटल पर सदा के लिए अंकित हो गई थी : दलदली कीचड़ से सना उसका चेहरा... उसकी विकृत मुस्कान... अंगारों सी दहकती उसकी आँखें... मेरी ओर फैले उसके दोनों हाथ। चाह कर भी मैं उस मारक छवि से मुक्ति नहीं पा सका।

अक्सर सुब्रोतो मेरे दुःस्वप्नों में आता। मेरी ओर फैले उसके दोनों हाथ मुझे दबोच लेते और अपने साथ उस भुताहा दलदल में खींच ले जाते। सर्दियों की रात में डर की कँपकँपी के कारण मेरी नींद खुल जाती और मैं खुद को पसीने से तरबतर पाता। यह भावनात्मक सदमा मुझे चैन से जीने नहीं दे रहा था। जब मैं आईने में देखता था तो मेरी छवि अपना मुँह मोड़ लेना चाहती थी। मेरा जीवन जैसे उस दलदल का बंधक बनकर रह गया था। मैं अपने दुःस्वप्नों के भीतर फँसा छटपटाता रहता।

मेरी ऐसी हालत देख कर पिता ने मुझे पढ़ने के लिए एक रिश्तेदार के पास कलकत्ता भेज दिया। पढ़ाई के बाद मेरी नौकर दिल्ली में लग गई। मैं फिर कभी गाँव नहीं गया। दरअसल मैंने अपना गाँव हमेशा के लिए छोड़ दिया था। मुझे दुःस्वप्न आने कम हो गए। लेकिन पूरी तरह बंद नहीं हुए। मैं गाँव से दूर चला आया था लेकिन गाँव की स्मृतियाँ मुझसे पूरी तरह दूर नहीं जा सकी थीं।

मैंने शहर की ही एक लड़की से शादी कर ली। फिर मेरे घर बेटे ने जन्म लिया। समय का चक्र अबाध गति से चलता रहा। कई बरस बाद माँ-बाबूजी भी चल बसे। पर मैं वापस गाँव नहीं गया। उन्हीं दिनों मैंने यह कविता लिखी थी-

“तुम डरते हो  
एड्स से  
कैंसर से  
मृत्यु से  
मैं डरता हूँ  
उन पत्लों से  
जब जीवित होते हुए भी  
मेरे भीतर कहीं कुछ  
मर जाता है।”

धीरे-धीरे मेरा बेटा दस साल का हो गया। वह भी बहुत सुरीली आवाज़ में गाना गाता था। उसके गाए गीत सुनकर मुझे सुब्रोतो की बहुत याद आती। कभी-कभी मुझे लगता जैसे सुब्रोतो ने ही मेरे घर बेटे के रूप में जन्म ले लिया है। पता नहीं आप इसके बारे में क्या कहेंगे

किंतु धीरे-धीरे मेरी यह धारणा बलवती होती जा रही थी।

अंत में मैंने निर्णय किया कि मैं वापस गाँव जाऊँगा। अब मैं चालीस साल का हो गया था। कब तक मैं उस त्रासद घटना का बोझ सलीब-सा अपने कंधों पर ढोता रहता?

गर्मी की छुट्टियों में मैं तीस बरसों का लंबा अंतराल तय करके गाँव चला आया। मेरी पत्नी और बेटा भी मेरे साथ थे। दूर से देखा मैंने गाँव के अपने घर को, गोया अंतरिक्ष से देखा धरती उर्वर को। मन में एक धुकधुकी भी थी कि मेरी अंधेड़ आँखें मेरे बचपन के दृश्यों का सामना अब न जाने कैसे कर पाएँगी। मेरे जहन में बचपन के मधुर दिनों की स्मृतियाँ लौटने लगीं। लेकिन गाँव अब पहचाना भी नहीं जा रहा था। वह जैसे एक बड़े बाजार में तब्दील हो चुका था। अब घरों में घुस आया था बाजार। बाजार में खो गए थे घर। अब पक्की गलियों वाले करबेनुमा स्वरूप में बदल चुके मेरे गाँव में जगह-जगह कोका-कोला और पेप्सी बेचनेवाली दुकानें खुल गई थीं। दुकानों में बोडाफोन, एयरटेल और आइडिया कनेक्शन के सिम कार्ड बिकने लगे थे। गाँव में डिश टीवी, टाटा-स्काइ और केबल कनेक्शन पहुँच चुका था। सुनने में आया कि ‘वालमार्ट’ भी वहाँ अपना आउटलेट खोलने वाला था। कई और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आउटलेट तो गाँव में पहले ही खुल चुके थे। गाँव अब बाज़ार की गिरफ्त में जा चुका था। वह मेरा पहले वाला गाँव नहीं रहा था। वह अपना अक्षत क्वॉरण खो चुका था।

गाँव के पूरब और पश्चिम में उगा जंगल काट दिया गया था। वहाँ कारें बनाने वाली एक विदेशी कंपनी ने अपना प्लांट लगा लिया था। इस कंपनी ने हर तरह के हथकंडे अपना कर कई गाँव वालों से भी उनकी जमीन खरीद ली थी। उत्तर में बहती नदी पर बाँध बन गया था। इस की चपेट में आने से हमारा गाँव तो बच गया था लेकिन उत्तर में स्थित कई गाँव बाँध के पानी में डूब गए थे और वहाँ के लोग विस्थापित हो गए थे।

लेकिन जो बात आपको चौंका देगी, अब वह सुनिए। गाँव से दो मील दूर दक्षिण में स्थित दलदल को टनों मिट्टी डालकर बिल्कुल भर दिया गया था। इस ठोस जमीन पर विदेशी सामान बेचनेवाली कई दुकानें खड़ी हो गई थी। उस पुराने दलदल वाले स्थान पर अब बाजार मौजूद था। बाजार का नया ‘दलदल’ मैंने सोचा।

खैर समय कब का करवट बदल चुका था। फिर मैं अपने दुःस्वप्नों के जाल में अब तक क्यों फँसा हुआ था? वहीं खड़े-खड़े मैं बहुत देर तक यही सब सोचता रहा। मैं सुब्रोतो की याद में कुछ करना चाहता था। मैंने गाँव में जमीन खरीद कर एक अस्पताल बनाने का फैसला किया। मैंने वही जमीन खरीद ली जहाँ पहले दलदल हुआ करता था और अब दुकानें थीं। दुकानें तुड़वा कर वहीं मैंने अपने बचपन के मित्र के नाम पर ‘सुब्रोतो मुखर्जी अस्पताल’ बनवाया। अब इस अस्पताल में इलाके के बीमार लोगों की अच्छी तरह देखभाल होती है।

इतनी कहानी सुना कर बूढ़ा खामोश हो गया। मैंने खिड़की से बाहर देखा। बाहर हवा चुप

थी। सामने मैदान में खड़े हुए एंटे पेड़ चुप थे। वहीं बेंच के नीचे बैठा रोज अपनी ही दुम से झगड़ने वाला लंगड़ा कुत्ता चुप था। एक सिमसिमी खामोशी चू-चू सड़क की छाती पर बिछती जा रही थी। और सड़क चुप्पी की केंचुल उतार फेंकने के लिए कसमसा रही थी।

आखिर सघन चुप्पी को रौंदते हुए बूढ़े की भारी आवाज फिर गूँजी, अपने डर से कभी मत डरो। डर को देखकर अपनी आँखें कभी मत मूँदो क्योंकि जो डर गया, समझो वह जीते जी मर गया। आपके मामले में वह डर क्या है, मुझे नहीं पता। पर मेरे मामले में वह डर दलदल था।

द्वारा श्री एच. बी. सिन्हा,  
५१७४, श्यामलाल बिल्डिंग, बसंत रोड,  
निकट पहाड़गंज, नई दिल्ली-११००५५.

## लघु कथा

### ● डॉ. विनय कुमार विष्णुपुरी की चार लघुकथाएँ

#### १. चार दोस्त

एक गाँव है। उस का नाम विष्णुपुर तितढ़ा है। उस गाँव में चार दोस्त रहते थे। चारों दोस्त चार वर्ण के थे। चारों में बड़ी घनिष्ठता थी। चारों दोस्तों की उम्र बारह से पंद्रह वर्ष के बीच थी।

सभी मैट्रिक पास थे। चारों मित्रों ने एक दिन आपस में विचार किया। क्यों नहीं हम लोग गाँव छोड़ चलें। एक ने पूछा कहाँ चलना है और किस लिए। दूसरे ने कहा, गाँव में पढ़ने की पूरी व्यवस्था नहीं मिल पा रही। इसीलिए हम लोग आस्ट्रेलिया चलने की सोच रहे हैं।

सभी दोस्तों ने एक स्वर से हाँ कह दिया। तीसरे ने पूछा-आस्ट्रेलिया में बाकई अच्छी पढ़ाई होती है। परंतु हम लोग चलेंगे कैसे? चौथे दोस्त ने कहा। हम सभी पासपोर्ट बनवा लेंगे, फिर आस्ट्रेलिया के विश्वविद्यालय से फार्म मंगा भर देंगे। जब नामांकन के लिए समय पर खोज होगी, तो हम चारों चल चलेंगे।

सभी चारों दोस्त इस बात से सहमत हो गए। चारों ने पासपोर्ट बनवा लिया। नामांकन फार्म भर आस्ट्रेलिया भेज दिया। समय बीता। चारों दोस्तों का नामांकन हेतु विश्वविद्यालय से पत्र आ गया। चारों दोस्त पढ़ने के लिए विदेश चले गए।

चारों दोस्तों के नाम इस प्रकार हैं-प्रथम का नाम विरेश विनीत, दूसरे दोस्त का नाम विश्वेन्द्र विनीत, तीसरे दोस्त का नाम सोनू और चौथे दोस्त का नाम मोनू था। चारों दोस्तों ने पढ़ने का विषय अलग-अलग चुना।

कुछ दिन बीता। चारों दोस्तों की पढ़ाई पूरी होने ही वाली थी। पुनः चारों दोस्तों ने आपस में विचार किया और कहा कि हमें गाँव की ही बगल के शहर में नौकरी या अपना कारोबार करना चाहिए। दूसरे ने कहाँ ठीक है। तीसरे ने कहा हाँ दोस्त, चारों में दोस्ती अंतिम दिनों तक बनी रहेगी। चौथे ने कहाँ, सबसे बड़ी बात यह है कि विदेश शिक्षा का लाभ बिहार के साथ हम बिहारियों को भी मिलेगा। तभी तो हमारा बिहार विकसित राज्य बनेगा और बिहारी सुखी

संपन्न होंगे। विरेश विनीत ने कहा, तब तो शिक्षित होकर इससे ज्यादा अच्छा कार्य मनुष्य क्या कर सकता है। विश्वेंद्र विनीत ने कहा, नहीं दोस्त हम सभी को इससे भी आगे कार्य करने होंगे। मोनू ने पूछा, अब इसके आगे हमें बिहारियों के साथ अपने विकास के लिए क्या करना होगा? सुनो दोस्त, हम लोग अपने-अपने विषय में अनुसंधान कर नई-नई चीजों की खोजकर राज्य के साथ देश-दुनिया को भी कुछ देना चाहते हैं। इन बातों को सुन चारों दोस्त काफी खुश हुए और बोले-निश्चित ही हम चारों अपनी-अपनी सोच के अनुरूप कार्य करेंगे।

सभी ने पटना आकर लगन के साथ अपना-अपना कार्य प्रारंभ कर दिया। सभी आज अपनी बुलंदियों के साथ ऊँचाई की ओर बढ़ रहे हैं। अगर सारे बिहारी इसी तरह कार्य करें तो वह दिन दूर नहीं, जब बिहार विश्व के नक्शे पर सबसे बड़ा सुखी संपन्न राज्य के रूप में उभरेगा।

## २. दयालु शीला

साल का अंतिम दिसंबर का मास था। आसमान में घने बादल छाए थे। जाड़े की तेज हवा चल रही थी। बहुत जोरों की ठंड पड़ रही थी। माँ ने खाना बनाकर शीला को खिलाया। अब शीला को पढ़ने जाना था। माँ ने शीला को स्कूल ड्रेस के ऊपर एक स्वेटर पहनाया। साथ ही उसे एक ऊनी चादर ओढ़ने को दी।

शीला ने अपना स्कूल बैग उठाया और स्कूल चल पड़ी। उसे राह में एक बुढ़िया मिली। बुढ़िया जाड़े से थर-थर काँप रही थी। उसके कपड़े कई जगह से फट चुके थे। शीला को उस बुढ़िया पर दया आ गई। बुढ़िया को जाड़े से काँपते देखकर शीला से नहीं रहा गया। उसने अपनी चादर उतारी और बुढ़िया को ओढ़ा दी।

बुढ़िया ने कहा, 'बेटी, तुम अपनी चादर लो। तुम्हारे माँ-पिताजी तुम पर बिगड़ेंगे।'

लेकिन शीला ने एक न सुनी। वह स्कूल की ओर चलती बनी। शाम होने पर शीला काँपती हुई घर पहुँची। उसकी माँ ने पूछा, 'बेटी, तुम्हारी चादर कहाँ है?' शीला बोली- 'मैंने बुढ़ियाँ को दे दी।'

माँ 'कौन बुढ़िया? उसे चादर क्यों दे दी? शीला बोली—माँ, एक बुढ़िया रास्ते में जाड़े से थर-थर काँप रही थी। मेरे पास तो स्वेटर भी था। मैंने उसे चादर दे दी, वह तो ले नहीं रही थी।' इतने में शीला के पिता जी श्री कालिका सिंह आ गए। माँ और पिता जी शीला का कार्य स्वभाव देख काफी खुश हुए। माँ ने शीला को छाती से लगा लिया। शीला की आँखें खुशी से चमक उठीं।

## ३. विरोधी से भी सीख मिलती है

एक दिन की बात है। मैं रामायण पढ़ रहा था। इसी बीच मेरा पोता भास्कर चंद्र विनीत हँसता हुआ दौड़ा आया। वह साढ़े तीन साल का है। वह बड़ा ही चंचल है। उसने कहा दादा जी, आप क्या पढ़ रहे हैं? मैंने कहा— रामायण और 'यह रामायण पुरुषोत्तम राम की कहानी का पवित्र ग्रंथ है। पोते ने कहा—तब तो आप जोर से पढ़कर मुझे भी सुनाएँ। मैं भी मर्यादा पुरुषोत्तम राम की कहानी सुनूँगा।'

'मैंने कहा-ठीक है, तू शांतिपूर्वक मेरी बगल में बैठ जा। मैं अब जोर से रामायण में वर्णित श्रीराम की कहानी पढ़ता हूँ। तू इसे शांतिपूर्वक सुन।'

ठीक है, दादाजी, मैं शांतिपूर्वक श्रीराम की कहानी सुनूँगा।

तब फिर मैं ने रामायण में श्रीराम और रावण की कहानी पढ़ना शुरू किया।

श्रीराम अयोध्या के राजा थे। श्रीराम जी के पिता का नाम श्री दशरथ था। श्रीराम को पिता के आदेश पर चौदह वर्ष तक जंगल में रहना पड़ा था। उसी बीच राम ने सोने की नगरी श्रीलंका पर चढ़ाई की थी। इस युद्ध में राम की ओर से बंदर और भालू भी लड़े थे। भगवान श्रीराम के भक्त हनुमान ने सोने की बनी लंका जला डाली।

लंका-पति रावण एक बलशाली एवं प्रतापी राजा था। वह शास्त्रों का महान ज्ञाता एवं राजनीति का बड़ा जानकार था।

राजनीति वह है, जिससे राज्य का शासन सुचारु रूप से चलाया जाता है। प्रजा को खुशहाल रखा जाता है और राजा राजनीतिज्ञ कहलाते हैं। रावण भी एक राजनीतिज्ञ था।

राम-रावण का युद्ध जारी था। भयंकर संग्राम छिड़ा हुआ था। रावण को मारना आसान नहीं था। फिर भी राम तो बड़े योद्धा थे। उनमें दैवी शक्ति विद्यमान थी। राम से रावण कई दिनों तक लड़ता रहा। अंत में राम ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया, जो रावण के वक्ष को चीरता हुआ पुनः राम की तरफ से लौट आया। रावण धराशायी हो गया। उसके प्राण-पखेरू अब उड़ने वाले थे।

राम की जय-जयकार से अकाश गूँज रहा था। परंतु राम रावण की हालत को देखते हुए कुछ गंभीर थे। तभी राम ने लक्ष्मण से कहा, 'लक्ष्मण, चुपचाप खड़े क्या देख रहे हो? जाओ, रावण के पास जाओ।' लक्ष्मण ने पूछा, 'उसके पास जाने से क्या फायदा?' राम बोले, 'फायदा क्यों नहीं है? तुम उसके पास जाओ और उसके पाँवों की ओर जाकर खड़े हो जाओ।'

लक्ष्मण ने फिर पूछा—पाँव की ओर जाकर खड़ा रहूँगा, आखिर क्यों?

राम बोले, जिससे कुछ ज्ञान हासिल करना होता है, उसके सामने छोटा बनना उचित है।

राम ने कहा मैं जानता हूँ कि रावण एक महान राजनीतिज्ञ है। देर मत लगाओ, उसके पास पौरन जाओ और राजनीति की शिक्षा ग्रहण करो। लक्ष्मण को यह बात ठीक नहीं जँची। वे बोले, 'दुष्ट शासक से भी शिक्षा ली जाती है।'

राम ने समझाते हुए कहा, हाँ भाई, इसमें कोई हर्ज की बात नहीं। ज्ञान किसी से भी ग्रहण करना चाहिए। अगर विरोधी में भी कोई गुण हो तो हमें उसके गुण को ग्रहण करने में हिचकित नहीं चाहिए। पोता भास्करचंद्र विनीत, आज अब इतना ही रामायण पढ़ कर छोड़ देता हूँ। शेष दूसरे दिन फिर सुना दूँगा। ठीक है दादाजी, अब आप मेरे साथ थोड़ा-सा खेलेंगे। ठीक है। चलो खेलने।

## ४. आत्मनियंत्रण

आत्मनियंत्रण का मतलब है। मन रूपी अंतरात्मा से संयमपूर्वक काम लेना। कोई भी मनुष्य आत्मसंयम का गुण लेकर पैदा ही होता, बल्कि इसके लिए प्रयत्नपूर्वक साधना करनी पड़ती है। इसके लिए मुझे या आपको मस्तिष्क की सहायता से अपने आप पर नियंत्रण रखना होता है।

मान लिया कि हमें खाना है, तो हम अपने मुँह का प्रयोग करते हैं, यदि गंद खेलना है तो पैर का प्रयोग करते हैं। परंतु मैं अपने-आप को सिनेमा देखने से रोकना चाहूँ तो अपने मस्तिष्क का प्रयोग होगा।

इसे आत्मनियंत्रण कहते हैं। यदि अपने जीवन में एक सफल व्यक्ति बनना है तो मुझे आत्मसंयम को अपनाना होगा। इसी की सहायता से मैं सांसारिक प्रलोभनों से दूर रह पाऊँगा। जिन लोगों को महापुरुष का दर्जा मिला है, वे अपनी इच्छाओं को नियंत्रित करके प्रलोभन को रोक लेते हैं।

तीतीदा गाँव में एक धनी व्यक्ति रहता था। उसको विरेश विनीत और विश्वेंद्र विनीत नाम के दो बेटे थे। जब वह बूढ़ा हो गया, तब उसने सोचा कि अपनी संपत्ति अपने पुत्रों के बीच बाँट देनी चाहिए। परंतु वह जानना चाहता था कि उसके पुत्रों में सबसे सुयोग्य कौन है, जिसे संपत्ति-रक्षा की जवाबदेही दी जाए।

उस धनी व्यक्ति ने परीक्षा लेनी चाही। उसने दोनों पुत्रों को कुछ समय दिए और कहा कि विदेश में जाकर वे अपना भाग्य अजमाएँ। उसने तीन महीने का समय दिया। दोनों ही पुत्रों ने अपना-अपना थैला बाँधा और मुंबई रवाना हो गए। उन्होंने मुंबई जाकर बड़े होटल में एक किराएँ का कमरा लिया। मुंबई जैसे बड़े शहरों में यह संभव है कि कोई भी व्यक्ति या तो अपना भाग्य बना ले या लुटा दे। विरेश विनीत और विश्वेंद्र विनीत का भी इतना बड़ा शहर देखने का यह पहला मौका था। वे इतनी सुंदर-सुंदर दुकानों, भव्य इमारतों और चौड़ी-चौड़ी सड़कों को देख चकित थे। वे तीन चार दिनों तक शहर का आनंद लेते रहे।

छठे दिन बड़े भाई विरेश विनीत की दोस्ती कुछ नव-युवकों से हो गई। उन्होंने विरेश विनीत को बतलाया कि वह मुंबई का सच्चा आनंद प्राप्त करे। मुंबई आने का अपना उद्देश्य भूल कर वह उन दोनों व्यक्तियों के साथ चल पड़ा। दूसरे भाई विश्वेंद्र विनीत को यह याद था कि पिता ने उसे कैसे किस लिए दिए हैं। वह उस महीने होटल से निकल आया और एक छोटा-सा कमरा उसने किराएँ पर ले लिया। विश्वेंद्र विनीत ने मन में दृढ़ निश्चय कर लिया कि अब वह ज्यादा पैसा बचाएगा। अगले दिन वह थोक भाव पर ढेर सारे खिलौने खरीद लाया। वह प्रतिदिन सुबह खिलौनों की टोकरी के साथ चक्कर लगाता और खिलौना बेचता। इस प्रकार वह पैसा कमाने लगा।

विरेश विनीत उसी होटल में टिका रहा और वह हर दिन सिनेमा जाता था। वह किसी बढ़िया होटल में खाना खाता और मित्रों को भी खिलाता। वह जुआ भी खेलने लगा। उसकी आदत दिनों दिन बिगड़ती गई।

एक दिन विश्वेंद्र विनीत अपने बड़े भाई विरेश विनीत के पास पहुँचा। उसने कहा, 'भैया, अपनी पैसा और समय व्यर्थ मत बरबाद करो। पिता के दिए हुए रुपयों को बरबाद करने से अच्छा यह होगा कि तुम भी कुछ काम करने का निश्चय करो।'

विरेश विनीत ने कहा, 'तुम जैसा चाहो वैसा करो, मैं तो जीवन का आनंद ले रहा हूँ। जैसा मेरा दिल करेगा, वैसा ही करूँगा।'

मुंबई में एक महीना बिताने के बाद विरेश विनीत का सारा पैसा खर्च हो गया। उसके मित्रों ने उसका साथ छोड़ दिया। तब उसे अपने किए पर पश्चाताप होने लगा। उसने आत्मसंयम का प्रयोग नहीं किया था। वह अपने किए पर पछताने लगा। लेकिन अब पछताने से क्या हो सकता था? वह लज्जित और निराश हो घर लौट आया। विश्वेंद्र विनीत तीन महीने बाद घर लौटा। अब उसके पास बहुत साधन था। उसने अपने पिता को बतलाया कि वह मुंबई में एक खिलौने की दुकान खोलना चाहता है। पिता ने विश्वेंद्र विनीत को उसके परिश्रम और आत्मनियंत्रण के लिए धन्यवाद दिया। उसके पिता को पता चल गया कि उनके धन की रक्षा करने योग्य कौन है। निश्चय ही आत्मनियंत्रण संयम का अभ्यास करने से होता है। कोई भी कार्य मन लगा कर करने से इच्छित फल की प्राप्ति होती है। प्रलोभन में पड़कर अपने उद्देश्य से विचलित मत होओ। अपने संकल्प पर सदा अड़िग रहो। अपनी कार्य शक्ति और दृढ़ निश्चय से अपनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त करो।

□ □

शिला भवन, शिव शक्ति नगर,  
बाजार समिति, पटना-८०० ००६

‘समीचीन’ के लिए शुभकामनाओं सहित

## भुमा टूर्स एण्ड ट्रैवल्स

स्वामित्व : श्रीमती भुवनेश्वरी मनोज दुबे

टी-01, विशाल डेरी,  
कडेश्वरी मंदिर मार्ग,  
माऊंट मेरी, बांद्रा (प.)  
मुंबई - ४०० ०५०

फोन : 8108387319, 9221469271  
8108387316, 9920287301

*With Best Compliments from :*

## New Modern Lunch & Beer Bar

16, Sai Kunj  
Dr. Ambedkar Road  
Dadar (West),  
Mumbai-400014.

‘समीचीन’ के लिए शुभकामनाओं सहित

## श्रीमती सुनीता गुप्ता

हिंदी विभागाध्यक्ष  
एल. एस. रहेजा कॉलेज  
सांताक्रुज (पश्चिम),  
मुंबई-४०००५४

‘समीचीन’ के लिए शुभकामनाओं सहित

## राजबली दुबे

१, खेरवाड़ी म्युनिसिपल हिंदी स्कूल  
बांद्रा (पूर्व),  
मुंबई-४०००५१

*With Best Compliments from :*

## Jagir Singh

4, Bela Building  
Chheda Nagar  
Mumbai-400089.

*With Best Compliments from :*

## Santosh Singh

Thoughts Entertainment

Samata Nagar, 66/1229,  
Kandivali (East)  
Mumbai-401101

## श्रीमती सीमा मनोज सिंह

६६/१२२९, समता नगर  
कांदिवली (पूर्व)  
मुंबई-४००१०१

## रमेश पी. दत्त

स्वामी विवेकानंद हाईस्कूल  
शिव सृष्टि, नेहरू नगर  
कुर्ला (पूर्व),  
मुंबई-४०००२४.

## कविताएँ

- वेदप्रकाश अमिताभ

### नरक

नफरत से भरे शहर को  
नरक बनाने के लिए  
क्य जरूरी है—  
कोई शाप, कोई टोना  
कोई आक्रमण?  
नहीं-नहीं  
इसके लिए काफी है  
सिर्फ एक चीख  
एक उत्तेजक भाषण  
या कोई एक  
भावुक उलाहना।  
फिर बिना लगाए ही  
आग  
एक छोर से दूसरे छोर तक  
एक दिल से दूसरे दिल तक  
फैल जाती है  
और उसमें झुलस जाते हैं  
दख्तों की तरह मजबूत  
तमाम उसूल  
और सुगंधित संवेदनाएँ  
  
आँख टँग जाती है  
आसमान पर कि  
कोई देवदूत उतरे

या कोई अवतार हो  
जो अमृत-रस बरसा सके  
धुएँ से भरे इस शहर में

लेकिन हमारे दिलों में  
अक्सर गूँजती है आवाज  
कि इस नफरत का हल  
आसमान के पास नहीं  
धरती के पास ही है  
यहीं से फूटेगा  
वह मानवीय जलस्रोत  
जो बुझा सकेगा  
इंसान की जलाई  
इस आग को।

डी-१३१, रमेश विहार,  
अलीगढ़-२०२००१

□

### रजनी मोरवाल की दो कविताएँ

#### १. बुनूँगी रेशमी जाला

टूटकर छन से गिरी माला  
मोतियों ने स्वांग रच डाला।

फर्श पर बेसुध गिरे दाने  
मैं ठिठक कर सोच में डूबी,



तार रिश्तों के खिचें शायद  
या कि टूटन आपसी अभी,  
ये भला आकार क्या पाया?  
फिर रिसा सुख कौन-सा वाला?

मौसमों की थी छुअन इनमें  
स्याह रातों की खुमारी भी,  
पीर बिछुड़न की समाई थी  
औ ' मिलन की बेकरारी भी,

हार के मिस रात भर हमने  
गूँथनी होगी सभी सुधियाँ,  
प्रीति का विस्तार पाने को  
जोड़नी होंगी पुनः लड़ियाँ,

नेह के मासूम धागों से  
फिर बुनूँगी रेशमी जाला।

## २. मिट्टी में मिल जाएगा

जीवन कब थमत  
तेरे बिन?  
होली पर भी रंग उड़ेंगे  
दीपोत्सव दीपों की जगमग,  
चौक माँडनों की रंगोली  
जरा न होगी माई डमगम,  
किस दुविधा में तू  
काटे दिन?  
संगी साथी रिश्ते-नाते  
पल दो पल को रो ही लेंगे,  
बारह दिन आंसू के तट पर  
भूल-चूक तो धो ही लेंगे,  
कब किसने छोड़ा

कोई ऋण?  
सफ़र हुआ था शुरू जहाँ से  
अंत वहीं पर होगा प्यारे,  
अंहकार टुकड़े होकर के  
मिट्टी में मिल जाएगा रे,  
बस साँसों के अब  
फेरे गिन।

सी-२०४, संगाय प्लेटीना,  
साबरमती-गांधीनगर हाईवे,  
मोटेरा, अहमदाबाद-३८०००५

□

## सुशांत प्रिय की चार कविताएँ

### १. युग-बोध

मेरे दादाजी अक्सर  
अपरिचित लोगों के  
सपनों में चले जाते थे  
वहाँ दादाजी  
उन सबसे  
घुल-मिल कर  
खूब बतियाते थे

मेरे पिताजी के  
सपनों में  
अक्सर अजनबी लोग  
खुद ही चले आते थे  
पिताजी भी  
उन सब से  
घुल-मिलकर  
खूब बतियाते थे

मैं किस के सपनों में  
नहीं जाता हूँ  
न ही कोई मेरे  
सपनों में आता है  
मैंने अपने सपनों के द्वार पर  
'यह आम रास्ता नहीं है' का  
बोर्ड लगा रखा है

मेरे समकालीनों के  
सपनों के दरवाजे पर  
'कुत्तों से सावधान' का  
बोर्ड लगा हुआ है।

## २. सबसे अच्छा आदमी

सबसे अच्छा है  
वह आदमी  
जो अभी पैदा ही नहीं हुआ  
उसने हमें कभी नहीं छला  
प्रपंचों पर वह कभी नहीं पला  
हमें पीछे खींच कर  
वह आगे नहीं चला  
बची हुई हैं अभी  
वे सारी जगहें  
जिन्हें घेरता  
उसका अस्तित्व  
अपनी परछाईं से  
बची हुई है अभी  
उन सारी जगहों की  
आदिम सुंदरता  
उसके हिस्से की रोशनी में  
नहाती हुई  
बची हुई है  
अब भी निर्मल

उसके हिस्से की  
धूप पानी हवा  
आकाश मिट्टी  
बचा हुआ है अभी फ़िजा में  
उसके हिस्से का ऑक्सीजन  
राहत की बात है कि  
इसी बहाने थोड़ी कम है अभी  
वायु-मंडल में  
कार्बन-डायक्साइड की मात्रा  
नहीं बनी है एक और सरल रेखा  
वक्र-रेखा अभी  
बची हुई हैं बेहतरी की  
कुछ संभावनाएँ अभी  
कि उपस्थित के बोझ से  
कराह रही धरती को  
अनुपस्थित अच्छे आदमी से  
मिली है  
थोड़ी-सी राहत ही सही।

## ३. चाहत

जूते-चप्पल  
हमें कहीं नहीं ले जाते  
हमें हमारी मंज़िल तक  
ले जाते हैं हमारे हाथ-पैर  
मैं नहीं चाहता हूँ  
राम की चरण-पादुका-सा  
पूजा जाना  
मैं बलराम के हल-सा  
खेत की छाती में  
उतर जाना चाहता हूँ।

## ४. मेरा घर

जिस देश में  
आदमी के छोटेपन के लिए  
कोई जगह नहीं  
बचा हुआ है अब भी  
भरोसे का रंग  
जिस राज्य में  
पर्व-सा है  
यह जीवन  
जिस शहर में  
विश्वास की एक  
भरी-परी गली है जहाँ  
इंसानियत की नींव  
जहाँ गहरी है  
वहीं मेरा घर है।

श्री एच. बी. सिन्हा  
५१७४, श्यामलाल बिल्डिंग,  
वसंत रोड, नई दिल्ली-११००५५

□

### ● स्वर्ण कौर सैनी

## हम कहाँ जा रहे हैं?

मेरे दोस्तो हम कहाँ जा रहे हैं?  
मेरे साथियो हम कहाँ जा रहे हैं?

भेद सितारों के हमने हैं पाए, पर  
नाम पड़ोसी का ना जान पाए,  
करतब बड़े से बड़े कर दिखाए,  
दिल से ना दिल को मिला पा रहे हैं।  
मेरे दोस्तो...

महंगी हुई आज निःशुल्क शिक्षा,  
पदवीधर आज चलाता है रिक्शा,  
पूरी न होती महत् कोई इच्छा,  
मानव हो दानव जिए जा रहे हैं।  
मेरे दोस्तो...

हर इक रह प्यासी,  
हर इक आँख नम है,  
दिखावा है ज्यादा, मगर प्यार कम है,  
बढ़े जा रहे फासले तो दिलों के,  
कहने को युग हम नया ला रहे हैं।  
मेरे दोस्तों...

ऋषियों की धरती बनी पापखाना,  
सपना सा लगता है गुजरा जमाना,  
मरी जा रही आत्मा हर किसी की  
गीत खुशहाली के हम गा रहे हैं  
मेरे दोस्तो...

४, बेला,  
छेड़ा नगर,  
मुंबई-४०००८९

□

## गज़ल

### ● मिस्दाक आजमी

अब तेरी कम निगाही नज़र आएगी।।  
या मेर बेगुनाही नज़र आएगी।।

शहर जब जल के शमशान बन जाएगा।  
तब तुम्हें ये सियाही नज़र आएगी।।  
रह गई सूरते हाल यूँ ही अगर  
हर तरफ एक तबाही नज़र आएगी।।  
मेरी आँखों में तुम झाँककर देख लो  
मेरे दिल की गवाही नज़र आएगी।।  
'मीर, ही 'मीर' ये 'मीर, ही 'मीर' हैं  
'मीर, की बादशाही नज़र आएगी।  
इससे बढ़के भी वो वक्त आएगा कब  
जब तेरी खैर-खाही नजर आएगी।

ग्राम जौमाँ

पोस्ट: मेजवा, फुलपुर,

जिला : आजमगढ़-२७६३०४

□

## अजय राजावत की दो गज़लें

### १.

यह बड़ी बात है दीवानों की  
उनको चाहत है आसमानों की

न रहा सरोकार रोजी-रोटी से  
न उन्हें फिक्र है आशियानों की  
दिल हमारा हमारे पास नहीं  
मेहरबानी है पासवानों की

दिल के मेहमान की करें खातिर  
ये जिम्मेदारी है मेजबानों की  
उनसे मिलने को हम यूँ करते हैं  
जैसे तैयारी इम्तिहानों की

वो वफ़ा का सिला वफ़ा से दें  
बात करते हो किन जमानों की

वो जो पलकों की छाँव कर देते 'प्रीतम'  
क्या जरूरत थी शामियानों की

### २.

दिल में रहते हो और ख्यालों में  
तुमसा कोई नहीं हजारों में

इश्क की ज़िन्दगी भी क्या कहिए  
दिन खिजा के रहे बहारों में

इसमें साजिश है बागवानों की  
फूल डाले गए शरारों में

खुद में हम लाजवाब थे लेकिन  
फिर भी उलझे रहे सवालियों में  
दिल में जिसके भरे हुए हो गम  
लुत्फ क्या पाए वो नजारों में

दोस्ती किससे हम करें 'प्रीतम'  
दुश्मनी दिख रही है यारों में

ग्राम व पोस्ट: रामपुरा,

जिला : जालौन (उत्तर प्रदेश) २८५१२७

## नरेश हमितपुलकर की दो गज़लें

### १. आदमी

क्या भरोसा किस पल रंग बदलता है आदमी  
खिलौनों की तरह आदमी से खेलता है आदमी

मुहब्बत के लिए खुदा औरत मर्द को बनाया  
मगर आदमी से नफरत करता है आदमी

काम, नाम, देश, वेश। धर्म बदलता है आदमी  
अपने पराए को भी, खुद को भी मारता है आदमी

दो कौड़ी के लिए दोस्ती, प्यार, वफ़ा ही नहीं  
जिस्म ओ जान, ईमान तक बेचता है आदमी

झूठ फरेब, खून कत्ल तक करता है आदमी  
मत पूछो और क्या-क्या बुरा करता है आदमी

जानवर परिन्दे भी नहीं बेचते अपनों को  
मगर अफसोस, आदमी को बेचता है आदमी

ऊँच-नीच, जात पात, भेद करता है आदमी  
बुरी नज़र से भले को भी देखता है आदमी

सजा पाने के बाद भी सुधरता नहीं आदमी  
पता न था जानवर से बदतर होता है आदमी

### २. मज़े में गुनाहगार हैं

जश्न ओ मस्ती में चूर जुल्म अत्याचार है  
धल, कपट, लूट की हर सू जयजयकार है  
महंगाई, बेरोजगारी से बेहाल बेजान है  
गरीबों की बस्ती में भुखमरी से हाहाकार है

इन्सानियत शर्मसार, अपाहिज कानून हुआ  
मुसीबत में सच्चाई, मजे में गुनाहगार है

दिल ओ दिमाग पर कब्जा हर खराबी की है  
हर बुराई से आदमी को हो गया प्यार है

भय, आतंक, अशांति का माहोल हर तरफ है  
चैन ओ अमन की चाह में हर दर ओ दीवार है

सौदागर की नज़र में मुहब्बत भी व्यापार है  
दुनिया उस पे फिदा, जो ज्यादा चमकदार है

कीड़े, मकोड़े, दीमक की तरह आदमी भी  
खोखला करने, बरबाद ओ मिटाने तैयार है

शिंकार की तलाश में भटका हर जानवर है  
भूलजा जानवरों में हमदर्द, मददगार हैं

चिटगुघा-५८५४१२  
बीदर (कर्नाटक)

□

● आशा पांडेय

## दोहे

जीवन पल-पल बीतता, बुझी न मन की प्यास,  
हर पल नशतर चुभ रहे, पर आँखों में आस।

जो छूटा वह क्या मिले, फिर से हाथ बढ़ाया,  
अब रोता काहे भला, जीवन व्यर्थ गंवाय।

जीवन सार होम कर, पाई केवल राख  
पाई-पाई दे दिया, फिर भी बिगड़ी साख

कुछ सतरंगी चाह है, अब भी मन में हाय  
रह-रहकर मन ढूँढ़ता, प्रेमिल दिया जलाय।

हर रिश्ते-नाते यहाँ, करते आज हिसाब।  
गणना में कमजोर मैं, कैसे होऊँ पास।

चला सफर पर छोड़ सब, धन दौलत घर-बार,  
जीवन भर उलझा रहा, भरता रहा बखार।

बोये पेड़ बबूल का, आम कहाँ से होय,  
गुनिया कब से कह रहे, पर चेते ना कोय।

अक्षर-अक्षर ब्रह्म है, बोलो सोच विचार,  
कभी तरल करते हृदय, करते कभी प्रहार।

यह गठरी है प्रेम की, जो खोले वह लेय,  
बस इतनी है शर्त कि वह औरों को देय।

यह अँधियारा पाख है, जाएगा यह बीत,  
नहीं ठहरता पल कभी, ना हो तू भयभीत।

□

५, योगी राज शिल्प,  
विशेष पुलिस महानिरीक्षक बंगला के सामने,  
कॅम्प, अमरावती-४४४६०२